॥ॐ॥
॥श्री परमात्मने नमः ॥
॥श्री गणेशाय नमः॥

शाण्डिल्योपानिषद

विषय सूची

प्रथम अध्याय – प्रथम खण्ड 5

प्रथम अध्याय – द्वितीय खण्ड 9

प्रथम अध्याय – तृतीय खण्ड 12

प्रथम अध्याय – चतुर्थ खण्ड 17

प्रथम अध्याय – पाँचवां खण्ड 27

प्रथम अध्याय – छठा खण्ड 30

प्रथम अध्याय – सातवां खण्ड 32

प्रथम अध्याय – आठवाँ खण्ड 60

प्रथम अध्याय – नौवां खण्ड 62

प्रथम अध्याय – दासवाँ खण्ड 63

प्रथम अध्याय – ग्यारहवां खण्ड 64

द्वितीय अध्याय 65

तृतीय अध्याय – प्रथम खण्ड 68

तृतीय अध्याय – द्वितीय खण्ड 71

॥ श्री हरि ॥

॥ शाण्डिल्योपानिषद ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

गुरुके यहाँ अध्ययन करने वाले शिष्य अपने गुरु, सहपाठी तथा मानवमात्र का कल्याण-चिन्तन करते हुए देवताओं से प्रार्थना करते है कि:

हे देवगण ! हम भगवान का आराधन करते हुए कानों से कल्याणमय वचन सुनें। नेत्रों से कल्याण ही देखें। सुदृढः अंगों एवं शरीर से भगवान की स्तुति करते हुए हमलोग; जो आयु आराध्य देव परमात्मा के काम आ सके, उसका उपभोग करें।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

जिनका सुयश सभी ओर फैला हुआ है, वह इन्द्रदेव हमारे लिए कल्याण की पुष्टि करें, सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान रखने वाले पूषा हमारे लिए कल्याण की पुष्टि करें, हमारे जीवन से अरिष्टों को मिटाने के लिए चक्र सदृश्य, शक्तिशाली गरुड़देव हमारे लिए कल्याण की पुष्टि

करें तथा बुद्धि के स्वामी बृहस्पति भी हमारे लिए कल्याण की पुष्टि करें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हमारे, अधिभौतिक, अधिदैविक तथा तथा आध्यात्मिक तापों (दुखों) की शांति हो।

॥ श्री हरि ॥

॥ शाण्डिल्योपानिषद ॥

अथ प्रथमाध्याये – प्रथमं खण्डः

प्रथम अध्याय – प्रथम खण्ड

शाण्डिल्यो ह वा अथर्वाणं
पप्रच्छआत्मलाभोपायभूतमष्टाङ्गंयोगमनुबूहीति।

महर्षि शाण्डिल्य अथर्वा मुनि से पूछते हैं कि 'हे मुने! आत्मतत्त्व की प्राप्ति के उपाय स्वरूप अष्टांग योग का वर्णन करने की कृपा करें।

स होवाचाथर्वा
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि।

ऐसा निवेदन सुनकर अथर्वा मुनि ने कहा- हे महर्षे! यम, नियम,आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि-ये ही योग के आठ अंग कहे गये हैं।

तत्र दश यमाः। तथा नियमाः। आसनान्यष्टौ। त्रयः प्राणायामाः। पञ्च प्रत्याहाराः। तथा धारणा। द्विप्रकारं ध्यानम्। समाधिस्त्वेकरूपः।

'यम' एवं 'नियम' की संख्या दस दस है, 'आसन' आठ प्रकार के हैं, 'प्राणायाम' की संख्या तीन है, 'प्रत्याहार' एवं 'धारणा' दोनों के पाँच पाँच भेद हैं, 'ध्यान' दो प्रकार के होते हैं तथा 'समाधि' का एक ही भेद है।

तत्राहिंसांसत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयार्जवक्षमाधृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश।

इसमें यम के दस भेद इस प्रकार हैं-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धैर्य, अल्प-आहार ग्रहण करना तथा पवित्रता।

तत्राहिंसा नाम मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वभूतेषु सर्वदाऽक्लेशजननम्।

अहिंसा का तात्पर्य है-मन, वचन, शरीर एवं अपने कार्य के द्वारा किसी भी प्राणी को कभी भी दुःख न देना।

सत्यं नाम मनोवाक्कायकर्मभिर्भूतहितयथार्थाभिभाषणम्।

सत्य का अर्थ है कि मन, वचन, शरीर एवं कर्म से जो हितकारी हो, वही वाणी प्राणियों के समक्ष बोलना।

अस्तेयं नाम मनोवाक्कायकर्मभिः परद्रव्येषु निःस्पृहता।

अस्तेय अर्थात् मन, वचन, शरीर एवं अपने कार्य के द्वारा दूसरों के धन-साधनों के प्रति निस्पृह रहना।

ब्रह्मचर्यं नाम सर्वावस्थासु मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः।

ब्रह्मचर्य का तात्पर्य है कि सभी अवस्थाओं में मन, वचन, शरीर एवं कर्म के द्वारा सभी तरह के मैथुन का परित्याग करना।

दया नाम सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः।

दया अर्थात् समस्त प्राणियों पर सदैव अपना अनुग्रह बनाये रखना।

आर्जवं नाम मनोवाक्कायकर्मणां विहताविहितेषु जनेषु प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा एकरूपत्वम्।

आर्जव अर्थात् मन, वचन, शरीर एवं कर्म से लोगों के द्वारा उचित अथवा अनुचित व्यवहार करने अथवा न करने पर भी समभाव बनाये रखना।

क्षमा नाम प्रियाप्रियेषु सर्वेषु ताडनपूजनेषु सहनम्।

क्षमा का तात्पर्य है-सदैव प्रिय-अप्रिय, पूजा अथवा ताड़ना आदि का बर्ताव किया जाए, तब भी उसे सहन करना।

धृतिर्नामार्थहानौ स्वेष्ट बन्धुवियोगे तत्प्राप्तौ सर्वत्र चेतःस्थापनम् ।

धृति अर्थात् धन हानि हो, अपने इष्ट-मित्रों का वियोग अथवा संयोग हो, हर स्थिति में चित्त को स्थिर रखना।

मिताहारो नाम चतुर्थांशावशेषकसुस्निग्धमधुराहारः।

अल्पाहार अर्थात् पेट में चौथा भाग खाली रहे, इस प्रकार अपने आहार में श्रेष्ठ घी, दुग्ध वाले मधुर पदार्थों का समावेश रखना।

शौचं नाम द्विविधं बाह्यमान्तरं चेति।

शौच का तात्पर्य है-बाह्य एवं अन्तः दोनों प्रकार की शुद्धि रखना।

तत्र मृजलाभ्यां बाह्यम्। मनःशुद्धिरान्तरम्।

तदध्यात्मविद्यया लभ्यम्॥१॥

मिट्टी तथा जल के द्वारा बाहर की पवित्रता होती है तथा मन की शुद्धि आन्तरिक है जो अध्यात्म विद्या से होती है ॥१॥

प्रथमाध्याये – द्वितीयः खण्डः

प्रथम अध्याय – द्वितीय खण्ड

तपःसन्तोषास्तिक्यदानेश्वरपूजनसिद्धान्तश्रवणहीमतिजपव्रतानि दश नियमाः।

तप, संतोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर-पूजन, सिद्धान्त-श्रवण, लज्जा, मति, जप तथा व्रत-ये दस प्रकार के भेद 'नियम' के कहे गये हैं।

तत्र तपो नाम विध्युक्तकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीरशोषणम्।

इसमें तप का तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रतों को करने से शरीर को सुखाना।

संतोषो नाम यदृच्छालाभसंतुष्टिः।

संतोष अर्थात् दैव की इच्छा से जो भी कुछ प्राप्त हो जाए, उस पर संतोष रखना।

आस्तिक्यं नाम वेदोक्तधर्माधर्मेषु विश्वासः।

आस्तिक्य का भाव यह है कि वेद द्वारा कहे हुए धर्म और अधर्म में विश्वास रखना।

दानं नाम न्यायार्जितस्य धनधान्यादेः श्रद्धया र्थिभ्यः प्रदानम्।

नीति पूर्वक प्राप्त हुए धन-धान्य आदि को श्रद्धापूर्वक गरीबों को देना ही दान कहा जाता है।

ईश्वरपूजनं नाम प्रसन्नस्वभावेन यथाशक्ति विष्णुरुद्रादिपूजनम्।

ईश्वर-पूजन प्रसन्न स्वभाव से यथोचित मात्रा में विष्णु, रुद्र आदि का पूजन-अर्चन करना।

सिद्धान्तश्र वर्णनामवेदान्तार्थविचारः।

सिद्धान्त श्रवण अर्थात् वेदान्त के अर्थ का चिन्तन करना।

ही म वेदलौकिकमार्गकुत्सितकर्मणि लजा।

ही अर्थात् वेद मार्ग में तथा लोकमार्ग में नीच माने जाने वाले कृत्य के करने में लज्जा का अनुभव होना।

मतिर्नाम वेदवि हितकर्ममार्गेषु श्रद्धा।

मति अर्थात् वेदोक्त कर्म में श्रद्धा का उत्पन्न होना।

जपो नाम विधिवद्गूपदिष्टवेदाविरुद्धमन्त्राभ्यासः।

जप का तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक गुरु ने जिस वैदिक मन्त्र का उपदेश दिया है, उसका अभ्यास करना।

तदिद्वविधं वाचिकं मानसं चेति। मानसंतुमनसा ध्यानयुक्तम्।
वाचिकं द्विविधमुच्चैरुपांशुभेदेन। उच्चैरुच्चारणं यथोक्तफलम्।

उपांशु सहस्रगुणम्।मानसं कोटिगुणम्। व्रतं नाम वेदोक्तविधिनिषेधानुष्ठा ननैयत्यम्॥१॥

जप का अभ्यास दो तरह से होता है- वाचिक और मानसिक। मानसिक-जप मन के द्वारा ध्यान युक्त होने से होता है तथा वाचिक दो प्रकार से होता है-१. उच्चारण पूर्वक से तथा २. उपांशु (फुसफुसाहट) रूप में उच्चारण पूर्वक जप का यथोक्त फल होता है। उपांशु का उससे सहस्रगुना फल प्राप्त होता है तथा मानसिक जप करने का फल तो करोड़ गुना मिलता है। व्रत का तात्पर्य वेद के द्वारा कहे हुए विधि-निषेध का नियमित आचरण करना है ॥१॥

प्रथमाध्याये – तृतीयः खण्डः

प्रथम अध्याय – तृतीय खण्ड

स्वस्तिकगोमुखपद्मवीरसिंहभद्रमुक्तमयूराख्यान्यासनान्यष्टौ।
स्वस्तिकं नाम जानूर्वोरन्तरे सम्यकृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते॥१॥

स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त तथा मयूर नाम वाले यह आठ प्रकार के आसन कहे गये हैं-स्वस्तिक आसन में पैर के दोनों तलवों को दोनों जानुओं अर्थात घुटनों के बीच में बराबर रखकर सीधा तनकर बैठने कि इस क्रिया को ही स्वस्तिकासन कहा जाता है ॥१॥

सव्ये दक्षिणगुल्फ तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत्।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं यथा॥२॥

पीठ के बायीं ओर दाहिना गुल्फ अर्थात टखना एवं दायीं तरफ बायाँ गुल्फ जोड़कर गोमुख के सदृश बैठना ही गोमुखासन है ॥२॥

अङ्गुष्ठेन निबनीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण च।
ऊवारुपरि शाण्डिल्य कृत्वा पादतले उभे।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामपि पूजितम्॥३॥

हे शाण्डिल्य! दोनों जंघाओं के ऊपर दोनों पैरों के तलवों को रखकर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठों को उल्टी रीति से पकड़कर रखना ही सर्वमान्य पद्मासन कहलाता है॥३॥

एकं पादमथैकस्मिन्विन्यस्योरुणि संस्थितः ।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमुदीरितम्॥४॥

एक जाँघ को एक पैर से तथा दूसरी जाँघ को दूसरे पैर से जोड़कर बैठने को वीरासन कहते हैं ॥४॥

दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरम्।
हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीश्च प्रसार्य च ॥५॥
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः।
सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिभिः सदा॥६॥

दाहिने टखने के साथ बायाँ टखना तथा बायें टखने के साथ दायें टखने को लगाकर बैठ जाना और दोनों हाथों को दोनों जानुओं (घुटनों) पर रखकर अंगुलियों को फैलाकर रखना चाहिए। तत्पश्चात् ठीक तरह से एकाग्र होकर मुँह फैलाकर घ्राणेन्द्रिय के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करनी चाहिए। इसको ही सिंहासन कहते हैं और योगीजन सदैव इस आसन की प्रशंसा करते हैं ॥५-६॥

योनि वामेन संपीड्य मेदादुपरि दक्षिणम्।
भ्रूमध्ये च मनोलक्ष्यं सिद्धासनमिदं भवेत्॥७॥

गुदा क्षेत्र को बायें पैर से दबाकर दायें पैर को लिंग के ऊपर स्थिर करना; तत्पश्चात् भौंहों के बीच में लक्ष्य स्थिर करना ही सिद्धासन कहा जाता है॥७॥

गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्या: पार्श्वयोः क्षिपेत्।
पादपार्श्वे तु पाणिभ्यां दृढं बद्धा सुनिश्चलम्। भद्रासनं
भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम्॥८॥

लिंग के नीचे की ओर सीवनी प्रदेश में दोनों टखनों को स्थिर करने तथा हाथों से पैरों के दोनों पार्थों को मजबूती से पकड़कर निश्चलतापूर्वक बैठना ही भद्रासन कहलाता है, जो सभी तरह के रोग एवं विष आदि को विनष्ट करने वाला है॥८॥

संपीड्य सीविनी सूक्ष्मां गुल्फेनैव तु सव्यतः।
सव्यं दक्षिणगुल्फेन मुक्तासनमुदीरितम्॥९॥

सूक्ष्म सीवनी प्रदेश को बायें टखने के द्वारा दबा करके दाहिने गुल्फ से बायें टखने को दबा करके बैठना ही मुक्तासन कहलाता है॥९॥

अवष्टभ्य धरां सम्यक्तलाभ्यां तुकरद्वयोः।
हस्तयो: कूर्परौ चापि स्थापयेन्नाभिपार्श्वयोः ॥१०॥
समुन्नतशिरः पादो दण्डवद्व्योनि संस्थितः ।
मयूरासनमेतत्तु सर्वपापप्रणाशनम्॥११॥

दोनों हाथ की हथेलियों को भूमि से सटाकर स्थिर करना और हाथ की कोहनियों से नाभि के दोनों ओर दबा करके बैठना चाहिए। तदनन्तर मस्तक और पैरों को ऊर्ध्व की ओर उठाकर लकड़ी की तरह से आकाश में अधर स्थिर रखना ही मयूरासन कहलाता है। यह आसन सभी तरह के पापों का विनाश करने वाला है।

शरीरान्तर्गताः सर्वे रोगा विनश्यन्ति।
विषाणि जीर्यन्ते॥१२॥

इन आसनों के करने से शरीर के अन्दर विद्यमान रहने वाले सभी तरह के रोग विनष्ट हो जाते हैं तथा सभी प्रकार के विष स्वयं ही समाप्त हो जाते हैं ॥१२॥

येन केनासनेन सुखधारणं भवत्यशक्तस्तत्समाचरेत्॥१३॥

जो मनुष्य अशक्त हो, उसे जिस किसी आसन से सुख मिले, वही आसन करना चाहिए ॥१३॥

येनासनं विजितं जगत्त्रयं तेन विजितं भवति॥१४॥

जिसने इन सभी आसनों को जीत लिया है, उसने तीनों लोक जीत लिये हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥१४॥

यमनियमासनाभ्यासयुक्तः पुरुषः प्राणायाम चरेत्।
तेन नाड्यः शुद्धा भवन्ति ॥१५॥

यम, नियम एवं आसन से पूर्णरूपेण सम्पन्न होने के पश्चात् मनुष्य को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास से नाड़ियों की शुद्धि हो जाती है ॥ १५॥॥।

प्रथमाध्याये – चतुर्थः खण्डः

प्रथम अध्याय – चतुर्थ खण्ड

अथ हैनमथर्वाणं शाण्डिल्यः पप्रच्छ केनोपायेन नाड्यः शुद्धाः स्युः।
नाड्यः कतिसंख्या काः। तासामुत्पत्तिः कीदृशी। ता
सु कति वायवस्तिष्ठन्ति । तेषां कानि स्थानानि। तत्कर्माणि कानि।
देहे यानि यानि विज्ञातव्यानि तत्सर्वं मे ब्रूहीति ॥१॥

तत्पश्चात् महात्मा शाण्डिल्य ने अथर्वा मुनि से पूछा-किस उपाय से नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं ? नाड़ियों की संख्या कितनी होती है? उनकी उत्पत्ति किस तरह से हुई? उसमें कितने प्रकार के वायु रहते हैं ? उनका स्थान कौन सा है? उनके कार्य क्या-क्या होते हैं ? इस शरीर में जो भी कुछ जानने के लिए आवश्यक है, वह सभी कुछ आप मुझे बताने की कृपा करें॥१॥

स होवाचाथर्वा । अथेदं शरीरं षण्णवत्यङ्गुलात्मकं भवति।
शरीरात्प्राणो द्वादशाङ्गुला धिको भवति॥२॥
शरीरस्थं प्राणमग्निना सह योगाभ्यासेन समं न्यूनं
वा यः करोति स योगिपुङ्गवो भवति ॥३॥

ऐसा पूछने पर अथर्वा ऋषि ने कहा कि यह शरीर छियानबे (९६) अंगुल का प्रमाण स्वरूप है। यह प्राण-शरीर की अपेक्षा बारह अंगुल और अधिक होता है। इस शरीर में उपस्थित रहने वाले प्राण को योग के अभ्यास द्वारा जो भी मनुष्य अग्नि के साथ सम अवस्था में स्थिर करता है या फिर उससे भी कम करता है, वह श्रेष्ठ योगी कहलाता है ॥ २-३॥

देहमध्ये शिखिस्थानं त्रिकोणं तप्तजाम्बूनदप्रभं मनुष्याणाम्।
चतुष्पदां चतुरश्रम्। विहङ्गानां वृत्ताकारम्।
तन्मध्ये शुभा तन्वी पावकी शिखा तिष्ठति॥४॥

मनुष्यों को देह में अग्नि का स्थान त्रिकोण की भाँति तप्तस्वर्ण के सदृश प्रकाश युक्त होता है। चौपायों का आयताकार तथा पक्षियों का गोलाकार होता है। इस अग्नि स्थान में क्षीणकाय, शुभ अग्निशिखा रहती है ॥ ४॥

गुदाद्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रावयङ्गुलादधो देहमध्यं मनुष्याणां भवति।
चतुष्पदां हन्मध्यम्। विहगानां तुन्दमध्यम्। देहमध्यं नवाङ्गुलं
चतुरङ्गुलमुत्सेधायतमण्डाकृति॥५॥

गुदामार्ग से दो अङ्गुल ऊर्ध्व की ओर तथा लिङ्ग से दो अङ्गुल नीचे की ओर मनुष्य के शरीर का मध्यस्थल होता है। चौपायों के हृदय का मध्य एवं पक्षियों के पेट का मध्य ही उनके शरीरों के बीच का मध्य स्थल होता है। शरीर का वह बीच का भाग नौ अंगुल ऊँचा तथा

चार अंगुल विस्तार वाला होता है। उसकी आकृति अण्डे के सदृश होती है ॥५॥

तन्मध्ये नाभिः। तत्र द्वादशारयुतं चक्रम्।
तच्चक्रमध्ये पुण्यपापप्रचोदितो जीवोभ्रमति ॥६॥
तन्तुपञ्जरमध्यस्थलूतिका यथा भ्रमति तथा चा
सौ तत्र प्राणश्चरति। देहेऽस्मिञ्जीवः प्राणारूढो भवेत्॥७॥

उसके मध्य में नाभि है तथा उसमें बारह अरों से युक्त चक्र स्थित है। उस चक्र के मध्य में पुण्य-पाप से प्रेरणा प्राप्त करता हुआ जीव यत्र-तत्र भ्रमण करता रहता है। जिस प्रकार से मकड़ी अपने द्वारा निर्मित तन्तु (जाल) के अन्दर भ्रमण करती रहती है, उसी तरह से यह जीव भी वहीं पर विचरण करता रहता है। इस देह में जीव प्राण के ऊपर सतत आरूढ़ रहता है ॥६-७॥

नाभेस्तिर्यगध ऊर्ध्वं कुण्डलिनीस्थानम्।
अष्टप्रकृतिरूपाऽष्टधा कुण्डलीकृता कुण्ड लिनी शक्तिर्भवति।
यथावद्वायुसंचारं जलान्नादीनि परितः स्कन्धपार्श्वेषु निरुध्यैनं मुखेनैव
समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रं योगकाले चापानेनाग्निना च स्फुरति।
हृदयाकाशे महोज्ज्वला ज्ञानरूपा भवति॥८॥

नाभि के समीप नीचे एवं ऊपर की ओर कुण्डलिनी का क्षेत्र स्थित है। कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकार की प्रकृति से युक्त एवं आठ कुण्डली (घुमाव) बनाये हुए है। यह शक्ति योग की अवस्था में वायु के संचार को यथावत् करके जल एवं अन्न आदि को चारों ओर से

कन्धों के पार्श्व में स्थिर करके पुनः मुख से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक अपान तथा अग्नि के द्वारा जाग्रत् होती है। यह स्फुरणयुक्ता शक्ति हृदयाकाश में महान् उज्ज्वल एवं ज्ञानरूपा होती है॥ ८॥

मध्यस्थकुण्डलिनीमाश्रित्य मुख्या नाड्यश्चतुर्दश भवन्ति।
इडा पिङ्गला सुषुम्ना सरस्वती वारुणी पूषा हस्तिजिह्वा यशस्विनी
विश्वोदरी कुहूःशङ्खिनी पयस्विनी अलम्बुसा गान्धारीति
नाड्यश्चतुर्दश भवन्ति ॥९॥

कुण्डलिनी का आश्रय प्राप्त करके मध्य में स्थित रहने वाली चौदह मुख्य नाड़ियाँ हैं। यह क्रमशः इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, सरस्वती, वारुणी, पूषा, हस्तजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरी, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी, अलंबुसा एवं गान्धारी नामवाली हैं ॥ ९॥

तत्र सुषुम्ना विश्वधारिणी मोक्षमार्गेति चाचक्षते।
गुदस्य पृष्ठभागे वीणादण्डाश्रिता मूर्धपर्यन्तं ब्रह्मरन्धे विज्ञेया व्यक्ता
सूक्ष्मा वैष्णवी भवति ॥१०॥

इन समस्त नाड़ियों में सुषुम्ना नाड़ी विश्व को धारण करने में समर्थ तथा मोक्षमार्ग को प्रदान करने वाली है, ऐसा योगीजन कहते हैं । गुदा के पृष्ठ भाग में वह नाड़ी मेरुदण्ड के आश्रित रहती है तथा मस्तक में ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंचती है। यह स्पष्ट, सूक्ष्म एवं वैष्णवी रूपा होती है॥१०॥

सुषुम्नायाः सव्यभागे इडा तिष्ठति। दक्षिणभागे पिङ्गला।

इडायां चन्द्रश्चरति। पिङ्गलायां रविः। तमोरूपश्चन्द्रः । रजोरूपो रविः। विषभागो रविः। अमृतभागश्चन्द्रमाः। तावेव सर्वकालं धत्तः। सुषुम्रा कालभोक्त्री भवति। सुषुम्रापृष्ठपार्श्वयोः सरस्वतीकुहू भवतः। यशस्विनी कुहूमध्ये वारुणी प्रतिष्ठिता भवति। पूषासरस्वतीमध्ये पयस्विनी भवति। गान्धारीसरस्वतीमध्ये यशस्विनी भवति। कन्दमध्येऽलम्बुसा भवति। सुषुम्रापूर्वभागे मेदान्तं कुहूर्भवति। कुण्ड लिन्या अधश्चोर्ध्वं वारुणी सर्वगामिनी भवति। यशस्विनी सौम्या च पादाङ्गष्ठान्तमिष्यते। पिङ्गला चोर्ध्वगा याम्यनासान्तं भवति।पिङ्गलायाः पृष्ठतो याम्यनेत्रान्तं पूषा भवति ।

इस सुषुम्ना नाड़ी के बायीं ओर इड़ा नामक नाड़ी है तथा दायीं ओर पिंगला नाड़ी स्थित है। इड़ा में चन्द्रमा चलायमान रहता है और पिंगला में सूर्य विचरण करता है। चन्द्रमा तमोगुण के स्वरूप वाला एवं सूर्य रजोगुण के स्वरूप से युक्त है। चन्द्रमा अमृत का क्षेत्र है तथा सूर्य विष का प्रभाग है। ये दोनों सम्पूर्ण काल को धारण करते हैं। सुषुम्ना नाड़ी काल का उपभोग करने वाली है। सुषुम्ना के पृष्ठ भाग की तरफ सरस्वती नाड़ी विद्यमान है तथा उसके बगल के क्षेत्र में कुहू नाड़ी स्थित है। यशस्विनी एवं कुहू के मध्य में वारुणी नाड़ी प्रतिष्ठित है।

याम्यकर्णान्तं यशस्विनी भवति। जिह्वाया ऊर्ध्वान्तं सरस्वती भवति। आसव्यकर्णान्तमूर्ध्वगा शङ्खिनी भवति।
इडापृष्ठभागात्सव्यनेत्रान्तगा गान्धारी भवति।
पायुमूलादधोवंगाऽलम्बुसा भवति। एतासु चतुर्दशसु नाडीष्वन्या

नाड्यः संभवन्ति। तास्वन्यास्तास्वन्या भवन्तीति विज्ञेयाः।
यथाऽश्वत्थादिपत्रं सिराभिर्व्याप्तमेवं शरीरं नाडीभिर्व्याप्तम्॥११॥

पूषा और सरस्वती के मध्य में यशस्विनी नाड़ी स्थित है। गान्धारी और सरस्वती के मध्य में यशस्विनी नाड़ी विद्यमान है। कन्द के बीच में अलम्बुसा नाड़ी है। सुषुम्ना नाड़ी के पूर्व भाग में लिंग क्षेत्र तक कुहू नाड़ी फैली हुई है। कुण्डलिनी के नीचे एवं ऊपर की ओर वारुणी नाड़ी चारों तरफ गयी हुई है। यशस्विनी और सौम्या पैर के अंगूठे तक फैली हुई है। पिङ्गला नाड़ी ऊपर की तरफ चलकर के दायीं नासिका तक पहुँचती है। पिंगला के पृष्ठ भाग की तरफ से दायीं आँख तक पूषा नाड़ी फैली हुई है। दायें कान तक यशस्विनी स्थित है। जिह्वा के ऊपरी भाग तक सरस्वती नाड़ी प्रतिष्ठित है। बायें कान तक ऊपर की ओर गमन करती हुई शंखिनी नाड़ी स्थित है। इड़ा नाड़ी के पृष्ठ भाग की ओर से बायें नेत्र तक गमन करने वाली गांधारी नाड़ी कहलाती है। गुदा क्षेत्र के मूल से नीचे-ऊपर की ओर जाने वाली अलम्बुसा नाड़ी कहलाती है। इन चौदह प्रकार की नाड़ियों में अन्य और दूसरी नाड़ियाँ भी स्थित हैं। उन नाड़ियों के अन्दर भी अन्य इस प्रकार की बहुत सी नाड़ियाँ हैं। जिस प्रकार से पीपल आदि के पत्ते शिराओं से संव्याप्त होते हैं,उसी तरह शरीर भी तरह-तरह की नाड़ियों से संव्याप्त है ॥११॥

प्राणापानसमानोदानव्याना नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जया एते दश वायवः सर्वासुनाडीषु चरन्ति ॥१२॥

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त एवं धनञ्जय- ये दस तरह के वायु इन समस्त नाड़ी-संस्थानों में विचरण करते रहते हैं ॥१२॥

आस्यनासिकाकण्ठनाभिपादाङ्गुष्ठद्वयकुण्डल्यधश्चोर्ध्वभागेषु प्राणः संचरति।

मुख , नासिका, गला, नाभि, पैर के दोनों अँगूठे तथा कुण्डलिनी के नीचे एवं ऊर्ध्व के भागों में प्राणतत्त्व विचरण करता रहता है ।

श्रोत्राक्षि कटिगुल्फघ्राणगलस्फिग्देशेषु व्यानः संचरति।

कर्णेन्द्रिय, नेत्र, कमर, गुल्फ, नासिका, गला एवं कूल्हे के क्षेत्रों में व्यान भ्रमण करता रहता है।

गुदमेढ्रोरुजानूदरवृषणकटिजङ्घानाभिगु दाग्न्यगारेष्वपानः संचरति।

गुदा, लिंग, जानु, पेट, वृषण, कटि प्रदेश, नाभि और अग्निसंस्थान में अपान संव्याप्त रहता है।

सर्वसंधिस्थ उदानः।

समस्त संधि अर्थात् जोड़ के संस्थानों में उदान सतत विचरण करता रहता है।

पादहस्तयोरपि सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी समानः।

पैर, हाथ एवं अन्य सभी अंग-अवयवों में समान संव्यात रहता है।

भुक्तानरसादिकं गात्रेऽग्निना सह व्यापयन्द्विसप्ततिसहस्त्रेषु नाडीमार्गेषु चरन्समानवायुरग्निना सह साङ्गोपाङ्गकलेवरं व्याप्नोति।

खाये हुए अन्न के रस को शरीर की अग्नि के साथ संव्याप्त करके समान वायु बहत्तर हजार नाड़ियों के मार्ग में विचरण करता रहता है एवं अग्नि के साथ सांगोपांग शरीर में विद्यमान रहता है।

नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिसंभवाः।

नाग आदि पाँच प्रकार की वायु त्वचा, अस्थि आदि में प्रतिष्ठित रहते हैं।

तुन्दस्थं जलमन्नं च रसादिषु समीरितं तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि पृथक्कुर्यात् ।

उदर में रहने वाले जल तथा अन्न को रस आदि के रूप में ले जाकर पेट में रहने वाला प्राण-वायु पृथक्-पृथक् करता है।

अग्नेरुपरि जलं स्थाप्य जलोपर्य नादीनि संस्थाप्य स्वयमपानं संप्राप्य तेनैव सह मारुतः प्रयाति देहमध्यगतं ज्वलनम्।

आग के ऊपर जल रखकर तथा जल के ऊपर अन्न आदि प्रतिष्ठित कर स्वयं अपान के पास पहुँचकर वायु तत्त्व इसी अपान के साथ शरीर में स्थित अग्नि की ओर गमन करता है।

वायुना पालितो वह्निरपानेन शनैर्देहमध्ये ज्वलति।ज्वलनो ज्वालाभिः प्राणेन कोष्ठमध्यगतंजलमत्यु ष्णमकरोत्। जलोपरि समर्पितव्यञ्जनसंयुक्तमन्नं वह्निसंयुक्तवारिणा पक्कमकरोत्। तेन स्वेदमूत्रजलरक्तवीर्यरूपरसपुरीषादिकं प्राणः पृथक्कुर्यात्।

अपान वायु से रक्षित अग्नि शरीर के मध्य में मन्द-मन्द प्रज्वलित रहता है। यह अग्नि अपनी ज्वाला एवं प्राण-वायु के द्वारा कोठे के मध्य में स्थित रहने वाले जल को खूब गर्म करता है और उस पानी के ऊपर रखे शाक-दाल के सहित अन्न को प्राणवायु, अग्नियुक्त जल के द्वारा पकाता अर्थात् पचाता है तथा उसी में से पसीना, मूत्र, खून, वीर्य, रस, विष्ठा (मल) आदि को पृथक्-पृथक् करता है।

समानवायुना सह सर्वासु नाडीषु रसं व्यापयञ्छ्वासरूपेण देहे वायुश्चरति।

तदनन्तर समान वायु के साथ-साथ समस्त नाड़ियों में रस को प्रसारित करता हुआ प्राण-वायु श्वास के रूप में शरीर में विचरण करता रहता है।

नवभिॉमरन्धैः शरीरस्य वायवः कुर्वन्ति विण्मूत्रादिविसर्जनम्।

शरीर के नौ व्योमरन्ध्रों (घटाकाश के छिद्रों) के द्वारा वायु, मल, मूत्र आदि को बाहर निष्कासित करता है।

निश्वासोच्छ्वासकासश्च प्राणकर्मोच्यते।

श्वासोच्छ्वास तथा खाँसी यह दोनों ही प्राण तत्त्व के कर्म कहलाते हैं।

विण्मूत्रादिविसर्जनमपानवा युकर्म।

मल मूत्र का बहिर्गमन कराना अपान वायु का कार्य कहलाता है।

हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्म। देहस्योन्नयनादिकमुदानकर्म।

त्याग करना एवं स्वीकार करना आदि चेष्टाएँ व्यान का कार्य कहलाती हैं, शरीर का उन्नयन उदान का कार्य कहलाता है।

शरीरपोषणादिकं समानकर्म। उद्गारादि नागकर्म। निमीलनादि कूर्मकर्म।क्षुत्करणं कृकरकर्म।तन्द्रा देवदत्त कर्म। श्रेष्मादि धनञ्जयकर्म॥१३॥

शरीर को पोषण प्रदान करना समान का कार्य कहलाता है। डकार आदि नाग का कार्य है। पलक झपकाना कूर्म का कार्य है, भूख लगना कृकर का कार्य है। आलस्य देवदत्त का कार्य है तथा कफ आदि का उत्पन्न करना धनञ्जय का कार्य कहलाता है ॥१३॥

एवं नाडीस्थानं वायुस्थानं तत्कर्म च सम्यग्ज्ञात्वा नाडीसंशोधनं कुर्यात्॥१४॥

इस तरह से नाड़ी-संस्थान, वायु-संस्थान एवं उन सभी के कार्यों को ठीक तरह से जान-समझ कर नाड़ी को शुद्ध करना चाहिए ॥ १४॥

प्रथमाध्याये – पंचम खण्डः

प्रथम अध्याय – पाँचवां खण्ड

यमनियमयुतः पुरुषः सर्वसङ्गविवर्जितः कृतविद्यः सत्यधर्मरतो
जितक्रोधो गुरुशुश्रूषानिरतः पितृमातृविधेयः
स्वाश्रमोक्तसदाचारविद्वच्छिक्षितः फलमूलोदकान्वितं तपोवनं प्राप्य
रम्यदेशे ब्रह्मघोषसमन्विते स्वधर्मनिरतब्रह्मवित्समावृते
फलमूलपुष्पवारिभिः सुसंपूर्णे देवायतने नदीतीरे ग्रामे नगरे वापि
सुशोभनमठं नात्युच्चनीचायतमल्पद्वारं गोमयादिलिप्तं
सर्वरक्षासमन्वितं कृत्वा तत्र वेदान्तश्रवणं कुर्वन्योगं समारभेत्॥१॥

जिस पुरुष ने विद्या का अभ्यास किया हो, उसको यम-नियम से युक्त होकर सभी तरह की संगति का परित्याग करके सत्य रूपी धर्म में आरूढ़ होना चाहिए। क्रोध को वश में रखना, गुरु की सेवा सुश्रूषा में सतत लगे रहना, माता-पिता के आश्रित संरक्षण में रहना तथा पुनः अपने आश्रम में बताये गये श्रेष्ठ आचरण को समझने वाले के समीप में शिक्षा पाकर के फल, मूल तथा जल युक्त तपोवन में जाना चाहिए। वहाँ जाकर सुरम्य प्रदेश में ब्रह्मघोष से युक्त, अपने धर्म में परायण ब्रह्मवेत्ताओं के सान्निध्य में तथा फल-मूल, पुष्प एवं जल आदि से परिपूर्ण किसी भी देव-स्थल में या नदी के तट पर किसी गाँव या शहर में अनुपम श्रेष्ठ मठ बनाना चाहिए। वह स्थान न तो बहुत ऊँचा

हो और न ही अत्यन्त नीचा ही हो, न तो बहुत लम्बा तथा न ही अति चौड़ा ही हो। छोटे दरवाजे वाला, गोमय आदि से लीपा हुआ एवं पूर्णरूपेण सुरक्षित होना चाहिए। वहाँ वेदान्त का श्रवण करते हुए पुरुष को निरन्तर योगाभ्यास आदि आरम्भ कर देना चाहिए ॥ १॥

आदौ विनायकं संपूज्य स्वेष्टदेवतां नत्वा पूर्वोक्तासने स्थित्वा प्राङ्मुख उदङ्मुखो वापि मृद्वासनेषु जितासनगतो विद्वान्समग्रीवशिरोनासाग्रदृग्भ्रूमध्ये शशभृद्विम्बं पश्यन्नेत्राभ्याममृतं पिबेत्। द्वादशमात्रया इडया वायुमापूर्योदरे स्थितं ज्वालावलीयुतं रेफबिन्दुयुक्तमग्निमण्डलयुतं ध्यायेद्रेचयेत्पिङ्गलया। पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य कुम्भित्वा रेचयेदिडया॥२॥

देवों में प्रथम पूज्य गणपति का पूजन करने के पश्चात् अपने इष्टदेव को नमन-वंदन करके पूर्व में कहे गये आसन पर बैठना चाहिए। उस समय पूर्व अथवा उत्तर दिशा की तरफ मुख रखना और सुकोमल आसन पर आसीन होकर के आसन को सिद्ध करना चाहिए। तत्पश्चात् विद्वान् पुरुष को गर्दन और मस्तक को सीधा रखकर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखनी चाहिए। दोनों भौंहों के मध्य चन्द्रमण्डल को देखना तथा दोनों नेत्रों से अमृत तत्त्व का पान करना चाहिए। इसके बाद बारह मात्राओं से इड़ा नाड़ी के माध्यम से वायु खींचकर उसे पेट के अन्दर रहने वाले, ज्वालाओं से युक्त, रेफ और बिन्दु सहित अग्नि मण्डल से संयुक्त करने का चिन्तन करना चाहिए तथा इसके बाद पिंगला नाड़ी द्वारा अन्दर की वायु को बाहर निकालना चाहिए। तदनन्तर पिंगला से वायु भरकर अन्त: कुम्भक करके इड़ा नाड़ी से उसे बाहर निकालना चाहिए॥२॥

त्रिचतुस्त्रिचतुःसप्तत्रिचतुर्मासपर्यन्तं त्रिसंधिषु तदन्तरालेषु च षट्कृत्व आचरेनाडीशु द्धिर्भवति। ततः शरीरे लघुदीप्तिवह्निवृद्धिनादाभिव्यक्तिर्भवति॥३-४॥

इस तरह से ४३ दिन, तीन, चार या सात मास (त्रि चतुः सप्त) अथवा एक वर्ष (त्रिचतुः ३४४=१२ मास) पर्यन्त त्रिकाल सन्ध्या के साथ तीन-तीन अथवा चार-चार बार तथा उनके मध्य में छः बार तक अभ्यास करना चाहिए। इस अभ्यास से नाड़ी की शुद्धि हो जाती है। तदनन्तर इस अभ्यास से शरीर में हल्कापन, चेहरे में कान्ति, अग्नि की अभिवृद्धि तथा नाद श्रवण होने लगता है ॥ ३-४॥

प्रथमाध्याये – षष्ठः खण्डः

प्रथम अध्याय – छठा खण्ड

प्राणापानसमायोगः प्राणायामो भवति। रेचकपूरककुम्भकभेदेन स त्रिविधः। ते वर्णात्मकाः । तस्मात्प्रणव एव प्राणायामः॥१-२॥

प्राण तथा अपान को एकत्रित कर देना ही प्राणायाम होता है। रेचक, पूरक तथा कुम्भक के भेद से प्राणायाम तीन तरह का होता है। रेचक, पूरक, कुम्भक (प्राणायाम) वर्ण के स्वरूप से युक्त हैं इस कारण प्रणव ही प्राणायाम कहलाता है ॥ १-२॥

पद्माद्यासनस्थः पुमान्नासाग्रे
शशभृद्बिम्बज्योत्स्नाजालवितानिताकारमूर्ती रक्ताङ्गी हंस वाहिनी दण्डहस्ता बाला गायत्री भवति।

पद्म आदि किसी भी आसन पर आसीन होकर पुरुष को ध्यान करना चाहिए- 'नासिका' के अग्रभाग पर चन्द्रमण्डल की ज्योत्स्ना से आवृत, लाल रंग के अंगवाली, हंस पर आसीन, अपने हाथ में दण्ड को धारण किये हुए, बालरूप, 'अ' कार मूर्ति से युक्त 'गायत्री' हैं।

उकारमूर्तिः श्वेताङ्गी तायवाहिनी युवती चक्रहस्ता सावित्री भवति। मकारमूर्तिः कृष्णाङ्गी वृषभवाहिनी वृद्धा त्रिशूलधारिणी सरस्वती भवति ॥३॥

'उ' कार मूर्ति सावित्री श्वेत-शुभ्र अंग से युक्त, गरुड़ के आसन पर प्रतिष्ठित युवावस्था से युक्त, अपने हाथ में चक्र धारण किये हुए हैं। इसी तरह से 'म' कार मूर्ति सरस्वती कृष्णांगी, वृषभ पर आसीन, वृद्धावस्था को प्राप्त, अपने हाथ में त्रिशूल को धारण किये हुए हैं। ॥३ ॥

अकारादित्रयाणां सर्वकारणमेकाक्षरं परंज्योतिः प्रणवं भवतीति॥४॥

इस प्रकार 'अ' कार आदि तीनों वर्गों का सम्मिलित रूप'ॐ' है तथा वह सम्पूर्ण का कारण एकाक्षर स्वरूप परम ज्योति है। ऐसा चिन्तन करना चाहिए॥४॥

ध्यायेत् इडया बाह्याद्वायुमापूर्य षोडशमात्राभिरकारंचिन्तयन्पूरितं वायुंचतुःषष्टिमात्राभिः कुम्भयित्वोकारं ध्यायन्यूरितं पिङ्गलया द्वात्रिंशन्मात्रया मकारमूर्तिध्यानेनैवं क्रमेण पुनः पुनः कुर्यात्॥५॥

इस ध्यान के पश्चात् पुनः इड़ा नाड़ी के द्वारा बाहर की वायु सोलह मात्रा में खींचे तथा उस समय 'अ' कार का ध्यान करना चाहिए। इसके बाद इसी वायु को चौंसठ मात्रा में अन्तः कुम्भक करे तथा उस समय 'उ' कार का ध्यान करना चाहिए तथा उसके पश्चात् पिंगला नाड़ी के द्वारा बत्तीस मात्राओं से संयुक्त उस अन्दर भरी हुई वायु को बाहर निष्कासित करे । उस समय 'म' कार मूर्ति का ध्यान करना चाहिए। इसी प्रकार से यह क्रिया निरन्तर बार-बार करते रहना चाहिए ॥ ५ ॥

प्रथमाध्याये – सप्तम: खण्डः

प्रथम अध्याय – सातवां खण्ड

अथासनदृढो योगी वशी मितहिताशनः सुषुम्नानाडीस्थमलशोषार्थं योगी बद्धपद्मासनो वायुं चन्द्रेणापूर्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा सूर्येण रेचचित्वा पुनः सूर्येणापूर्य कुम्भयित्वा चन्द्रेण विरेच्य यया त्यजेत्तया संपूर्य धारयेत्।तदेते श्रीका भवन्तिप्राणं प्रागिडया पिबेनियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया। सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाऽभ्यासं सदा तन्वतां शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः॥१॥

इसके पश्चात् आसन के दृढ़ हो जाने पर योगी अपनी इन्द्रियों को वश में करके, दूसरों का हित चाहते हुए, स्वल्पाहार पर रहते हुए, सुषुम्ना नाड़ी में स्थित मल को शुष्क करने के लिए निरन्तर योगाभ्यास करता रहे। उस समय बद्धपद्मासन पर आरूढ़ हो, चन्द्र नाड़ी के द्वारा वायु को भरकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करने के बाद सूर्य नाड़ी के द्वारा रेचक करना चाहिए। तदनन्तर सूर्यनाड़ी से पूरक करके कुम्भक करे तथा चन्द्र नाड़ी से रेचक करना चाहिए। इस प्रकार जिस नाड़ी के द्वारा रेचक करे, उसी नाड़ी से पुनः पूरक करने के बाद कुम्भक करना चाहिए। इस भाव को प्रकट करने वाले निम्न प्रकार के शोक वर्णित किये गये हैं "सर्वप्रथम इड़ा नाड़ी के द्वारा प्राण को अन्दर भरकर कुम्भक करे तथा दूसरी पिंगला नाड़ी से रेचक करे।

तत्पश्चात् पुनः पिंगला से पूरक करके कुम्भक करते हुए इड़ा नाड़ी से रेचक करना चाहिए। इस प्रक्रिया से सूर्य और चन्द्र नाड़ी के द्वारा प्राणायाम का प्रतिदिन निरन्तर अभ्यास करने से योगी की सभी नाड़ियाँ तीन मास में ही पूर्ण शुद्ध हो जाती हैं ॥१॥

प्रातमध्यन्दिने सायमर्धरात्रे तु कुम्भकान्।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत्॥२॥

प्रात:काल, मध्याह्नकाल, सायंकाल तथा मध्य रात्रि में इसी तरह से चार बार मन्द-मन्द गति से अस्सी मात्राओं तक कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए॥२॥

कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणरोधे पद्मासनं भवेत्॥३॥

कनिष्ठ प्राणायाम के करते समय शरीर में पसीना आ जाता है, मध्यम स्तर का प्राणायाम करने में शरीर में कंप कंपी छूटती है और श्रेष्ठ प्राणायाम में पद्मासन में अवस्थित योगी अपने आसन से उठ जाता है ॥३॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत्।
दृढता लघुता चापि तस्य गात्रस्य जायते॥४॥

प्राणायाम करते समय श्रम के कारण शरीर में से जो पसीना निकल आता है, उस पसीने को शरीर में ही मल लेना चाहिए, क्योंकि इससे योगी का शरीर अत्यधिक मजबूत और हल्का हो जाता है ॥४॥

अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम्।
ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तावनियमग्रहः॥५॥

प्राणायाम का अभ्यास करते समय प्रारम्भिक अवस्था में दुग्ध एवं घृत के भोजन को ही अत्यधिक श्रेष्ठ बतलाया गया है। तत्पश्चात् जब अभ्यास स्थिर हो जाता है, तब किसी नियम की आवश्यकता नहीं रहती॥५॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम्॥६॥

जिस प्रकार शनै:-शनैः सिंह, गज और व्याघ्र आदि को वश में कर लिया जाता है, उसी प्रकार वायु भी प्राणायाम के अभ्यास से धीरे-धीरे वश में आ जाती है; लेकिन इसके विपरीत नियम से चलने पर यानी जल्दबाजी करने से वायु योगी का विनाश कर देती है ॥६॥

युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तंयुक्तं च पूरयेत्। यु
क्तंयुक्तं च बनीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात्॥७॥

अत: जिस प्रकार से ठीक बने, वैसे ही रेचक करना चाहिए, जैसे ठीक लगे, वैसे ही पूरक करना तथा ठीक लगने तक ही कुम्भक

करना चाहिए। इस प्रकार का अभ्यास करने से शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। ॥७॥

यथेष्टधारणाद्वायोरनलस्य प्रदीपनम्।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात्॥८॥

यथेष्ट शक्ति के अनुसार कुम्भक करने से अग्नि प्रज्वलित होती है तथा नाड़ियों के शुद्ध होने से नाद श्रवण होता है और शरीर रोगरहित हो जाता है॥८॥

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते।
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः॥९॥

विधि-विधान पूर्वक प्राणायाम करने से योगी के समस्त नाड़ी-समूह शुद्ध हो जाते हैं । तब सुषुम्ना नाड़ी का मुख भेदन करके वायु सुखपूर्वक उसमें प्रविष्ट हो जाता है ॥९॥

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्य प्रजायते।
यो मनः सुस्थिरो भावः सैवावस्था मनोन्मनी॥१०॥

वायु जब बीच में सञ्चरित होती है, तब मन सुस्थिर होता है और जब मन की ठीक तरह से स्थिरता हो जाती है, तब उसी स्थिरता को मनोन्मनी अवस्था कहा जाता है ॥१०॥

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः।

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः॥११॥

साधक को पूरक के अन्त में कुम्भक के समय जालन्धर नामक बन्ध करना चाहिए तथा कुम्भक के अन्त एवं रेचक के प्रारंभ में उड्डियान नामक बन्ध करना चाहिए ॥११॥

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥१२॥

नीचे की ओर मूलरन्ध्र का संकोचन करने में कण्ठ का संकोचन होता है और बीच के भाग को पीछे की ओर खींचने से प्राणवायु ब्रह्मनाड़ी में निरन्तर गतिमान् होती रहती है ॥१२॥

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयन्।
योगी जराविनिर्मुक्तः षोडशो वयसा भवेत्॥१३॥

अपान वायु को ऊर्ध्व की तरफ ले जाकर तथा प्राणवायु को कण्ठ से नीचे की ओर लाकर के योगी साधक वृद्धावस्था से रहित होकर सोलह वर्ष की आयु वाला हो जाता है ॥१३॥

सुखासनस्थो दक्षनाड्या बहिःस्थं पवनं समाकृष्याकेशमानखाग्रं
कुम्भयित्वा सव्यनाड्या रेचयेत्।
तेन कपालशोधनं वातनाडीगतसर्वरोगसर्वविनाशनं भवति॥१३-१॥

योगी सुखासन पर बैठकर दाहिनी नाड़ी के द्वारा बाहर की वायु को अन्दर की ओर खींचकर सिर के बालों से लेकर पैर के नख की नोंक तक में वायु को रोक कर अर्थात् कुम्भक करके बायीं नाड़ी के द्वारा वायु को बाहर निकाले अर्थात् रेचक करे। ऐसी क्रिया करने से कपाल की शुद्धि होती है और नाड़ियों में रहने वाले समस्त रोगों का पूर्णतया विनाश ही हो जाता है। १३-१॥

हृदयादिकण्ठपर्यन्तं सस्वनं नासाभ्यां शनैः पवनमाकृष्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा इडया विरेच्य गच्छंस्तिष्ठन्कुर्यात्।
तेन श्रेष्महरं जठराग्निवर्धनं भवति॥१३-२॥

हृदय से लेकर कण्ठ पर्यन्त शब्द के साथ दोनों नासिका छिद्रों के द्वारा धीरे-धीरे वायु को खींचकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करने के बाद इड़ा नाड़ी के द्वारा रेचक करना चाहिए। यह क्रिया चलते हुए तथा खड़े हुए भी करते ही रहना चाहिए, क्योंकि इस क्रिया से कफ का शमन और जठराग्नि की वृद्धि होती है ॥ १३-२॥

वक्त्रेण सीत्कारपूर्वकं वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत्। तेन क्षुत्तृष्णालस्यनिद्रा न जायन्ते॥१३-३॥

मुख के द्वारा सीत्कार अर्थात् सी-सी करते हुए वायु अन्दर भरकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करने के पश्चात् दोनों नासिका छिद्रों द्वारा रेचक की क्रिया करनी चाहिए। इससे भूख-प्यास, आलस्य अथवा निद्रा का प्रादुर्भाव नहीं होता॥१३-३॥

जिह्वया वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत्। तेन गुल्मप्लीहचरपित्त क्षुधादीनि नश्यन्ति॥१३-४॥

जिह्वा द्वारा वायु को अन्दर खींचकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करके दोनों नासिका छिद्रों द्वारा रेचक करना चाहिए। इससे गुल्म (गोला), तिल्ली, ज्वर, पित्त और भूख आदि रोगों का शमन हो जाता है ॥ १३-४॥

अथ कुम्भकः। स द्विविधः सहितः केवलश्चेति । रेचकपूरकयुक्तः सहितः। तद्विवर्जितः केवलः। केवलसिद्धिपर्यन्तं सहितमभ्यसेत् । केवलकुम्भके सिद्धे त्रिषु लोकेषु न तस्य दुर्लभं भवति। केवलकुम्भकात्कुण्डलिनीबोधो जायते।॥१३-५॥

अब कुम्भक के सन्दर्भ में कहते हैं, उसके दो भेद हैं- (१) सहित और (२) केवल । रेचक तथा पूरक से जो संयुक्त हो, उसे सहित और उनसे जो रहित हो, वह केवल है। इसमें से केवल जब तक सिद्ध न हो, तब तक सहित का अभ्यास करते रहना चाहिए और जब केवल' कुम्भक सिद्ध हो जाता है, तब योगी को तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। केवल कुम्भक के द्वारा ही कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है ॥१३-५॥

ततः कृशवपुः प्रसन्नवदनो निर्मललोचनोऽभिव्यक्तनादो निर्मुक्तरोगजालो जितबिन्दुः पट्वग्निर्भवति॥१३-६॥

इस सिद्धि के पश्चात् योगी-साधक कृश शरीर से युक्त, प्रसन्न मुख वाला, निर्मल नेत्रों से सम्पन्न, नाद श्रवण करने वाला, समस्त रोगों से रहित, ब्रह्मचर्यसिद्ध तथा प्रज्वलित जठराग्नि से युक्त हो जाता है ॥१३-६॥

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता। एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥१४॥

अन्त:करणे में लक्ष्य निहित हो तथा बाह्य की दृष्टि निमेष-उन्मेष अर्थात् पलक झपकने से विहीन हो, यही वैष्णवी मुद्रा है तथा इसे ही समस्त तन्त्र-शास्त्रों में गुप्त रहस्य के रूप में मान्यता प्राप्त है ॥१४॥

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते दृष्टया निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि। मुद्रेयं खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यकताना शिवा शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति सा तत्त्वं पदं वैष्णवी॥१५॥

अन्तर्लक्ष्य में जिस योगी का चित्त और पवन विलय को प्राप्त हो गया हो, वह योगी साधक सतत निश्चल नेत्रों द्वारा बाहर की ओर नीचे की तरफ देखता हो, किन्तु इसके अतिरिक्त और कुछ न देखता हो, यही खेचरी मुद्रा है। यह केवल लक्ष्य में ही एकतान एवं मङ्गलमयी होने के कारण वैष्णवी मुद्रा भी कही जाती है। उसमें शून्य एवं अशून्य रहित परमतत्त्व अविनाशी पद रूप में प्रकाशित होता रहता है॥१५॥

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षणश्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्यन्द भावोत्तरम्।ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं

देदीप्यमानं परं तत्त्वं तत्परमस्ति वस्तुविषयं शाण्डिल्य विद्धीह तत्॥१६॥

अर्ध उन्मीलित नेत्रों से युक्त, एकाग्र मनवाला तथा नासिका के अग्रभाग पर स्थित दृष्टि से सम्पन्न योगी अचल भाव को पाने के पश्चात् सूर्य एवं चन्द्र नाड़ी को भी विलय करा देता है। इस समय ज्योति रूप समस्त बाहरी विषयों से विहीन एवं दीप्तिमान् जो तत्त्व प्रकाशित हो रहा है, वही परम वस्तु के रूप में उसका विषय होता है। हे शाण्डिल्य! इस प्रकार तुम्हें जानना चाहिए ॥ १६ ॥

तारं ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयन्भ्रुवौ।
पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात् ॥१७॥

योगी साधक दोनों नेत्रों की पुतलियों को ज्योति से जोड़कर दोनों भौंहों को कुछ ऊँचा रखता है। यह साधक के प्रारम्भिक अभ्यास का मार्ग है और इससे क्षणमात्र में ही 'उन्मनी' स्थिति प्राप्त हो जाती है। ॥१७॥

तस्मात्खेचरीमुद्रामभ्यसेत्। तत उन्मनी भवति।
ततो योगनिद्रा भवति। लब्धयोगनिद्रस्य योगिनः कालो नास्ति।
॥१७.१॥

इसलिए साधक को खेचरी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए, उससे वह उन्मनी दशा को प्राप्त करता है, फिर उसे योग निद्रा की प्राप्ति हो जाती है। जिस साधक को योग-निद्रा की प्राप्ति हो, वह योगी फिर काल के वश में नहीं होता ॥१७.१॥

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम्।
मनसा मन आलोक्य शाण्डिल्य त्वं सुखी भव॥१८॥

इस कारण हे शाण्डिल्य ! शक्ति के बीच में मन को केन्द्रित करो। शक्ति को मन के अन्दर गतिशील रखकर तुम मन के द्वारा मन को ही देखो तथा सुखी-समुन्नत जीवन व्यतीत करो॥ १८॥

स्वमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तय॥१९॥

ऐसे ही चैतन्य आकाश के बीच में आत्मा को स्थित करके तथा आत्मा के मध्य में आकाश को प्रतिष्ठित देखना चाहिए। इसके पश्चात् सभी को चैतन्य आकाशमय करके, ऐसा ध्यान करें कि इसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं॥१९॥

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तिका।
सर्वचिन्तां परित्यज्य चिन्मात्रपरमो भव॥२०॥

योगी को बाह्यजगत् की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, उसी प्रकार अपने भीतर की भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। इस तरह समस्त प्रकार की चिन्ताओं का परित्याग करके मात्र चैतन्य स्वरूप हो जाना चाहिए ॥२०॥

कर्पूरमनले यद्वत्सैन्धवं सलिले यथा।
तथा च लीयमानं सन्मनस्तत्त्वे विलीयते॥२१॥

जिस तरह से कपूर अग्नि में तथा नमक जल में विलीन हो जाता है, उसी तरह से ध्यानस्थ हुए योगी का मन परम तत्त्व में विलीन हो जाता है ॥२१॥

ज्ञेयं सर्वप्रतीतं च तज्ज्ञानं मन उच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः॥२२॥

जो भी कुछ जानने योग्य है और जो प्रतीत होता है, उसका जो ज्ञान है, उसे ही मन कहते हैं। ज्ञान एवं ज्ञेय सभी कुछ एक ही साथ विनष्ट हो गया है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी पथ नहीं है ॥२२॥

ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम्।
मानसे विलयं याते कैवल्यमवशिष्यते ॥२३॥

ज्ञेय वस्तु का परित्याग कर देने से मन विलीनता को प्राप्त हो जाता है और जब मन विलीनता को प्राप्त हो जाता है, तब कैवल्य ही कैवल्य शेष रह जाता है ॥२३॥

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं मुनीश्वर।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥२४॥

हे मुनीश्वर! चित्त को विनष्ट करने के दो प्रमुख मार्ग हैं- १. योग और २. ज्ञान । योग अर्थात् चित्त की वृत्तियों का शमन करना तथा ज्ञान अर्थात् वस्तु के तत्त्व को यथार्थ रूप में देखना॥२४॥

तस्मिन्निरोधिते नूनमुपशान्तं मनो भवेत्।
मनः स्पन्दोपशान्त्यायं संसारः प्रविलीयते ॥२५॥

मन को जब अपने वश में कर लिया जाता है, तब वह निश्चित ही शान्त हो जाता है। मन की चंचलता के शान्त होते ही इस संसार का विलय हो जाता है ॥२५॥

सूर्यालोकपरिस्पन्दशान्तौ व्यवहृतिर्यथा।
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासयोगतः॥२६॥

जिस प्रकार सूर्य की गति शान्त हो जाने पर संसार का व्यवहार शान्त हो जाता है, वैसे ही शास्त्रों एवं सज्जनों की संगति से वैराग्य के अभ्यास का योग हो जाने से भी संसार शान्त हो जाता है ॥२६॥

अनास्थायां कृतास्थायां पूर्व संसारवृत्तिषु।
यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोहितात्॥२७॥

सर्वप्रथम सांसारिक वृत्तियों के प्रति अनास्था उत्पन्न की जाए, तत्पश्चात् लम्बे समय तक ध्यान एवं एक तत्त्व का दृढ़ अभ्यास हो जाने से प्राण का स्पन्दन बन्द हो जाता है अर्थात् प्राणवायु को अपने वश में कर लिया जाता है। ॥२७॥

एकतत्त्वदृढाभ्यासात्प्राणस्पन्दो
निरुध्यते।पूरकाद्यनिलायामाद्बुढाभ्यासादखेदजात्॥२८॥

इसी प्रकार बिना श्रम के अधिक देर तक श्वास खींचते हुए पूरक आदि वायु के दृढ़ अभ्यास तथा एकान्त चिन्तन करने से मन की गति पूर्णतया बन्द हो जाती है (मन वश में हो जाता है)। ॥२८॥

एकान्तध्यानयोगाच्च मन:स्पन्दो निरुध्यते ।
ओङ्कारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्त्वानुभावनात्। सुषुप्ते संविदा ज्ञाते
प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥२९॥

तदनन्तर ॐकार के उच्चारण के बाद शब्द तत्त्व की अनुभूति होने से सद्ज्ञान द्वारा सुषुप्ति का रूप जान लिया जाता है, तब प्राण की गति रुक जाती है अर्थात् प्राण तत्त्व को अपने वश में कर लिया जाता है॥२९॥

तालुमूलगतां यत्नाजिह्वयाक्रम्य घण्टिकाम्।
ऊर्ध्वरन्ध्र गते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ ॥३०॥

तालु के मूल में स्थित रहने वाली ग्रन्थि को जब सतर्कतापूर्वक जिह्वा द्वारा दबाया जाता है, तब प्राणवायु ऊपर के छिद्र में आ जाता है और तभी प्राणगति अवरुद्ध (अपने वश में) हो जाती है ॥३०॥

प्राणे गलितसंवित्तौ तालूक् द्वादशान्तगे।
अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥३१॥

तालु से ऊर्ध्व की ओर बारह अंगुल दूर तक गमन करने वाला प्राण चेष्टा-शून्य हो जाता है, तब अभ्यास मात्र से ही ऊपर के छिद्र द्वारा प्राण का स्पन्दन अवरुद्ध किया जाता है ॥ ३१॥

द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलेऽम्बरे।
संविद्दशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥३२॥

नासिका के अग्रभाग के सामने द्वादश अंगुल की दूरी पर पवित्र आकाश में ज्ञान-दृष्टि जब अत्यन्त शान्त हो जाती है, तभी प्राणों का स्पन्दन अवरुद्ध हो जाता है॥ ३२॥

भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते।
चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥३३॥

भौंहों के मध्य में तारक ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर शान्ति के मिल जाने से जगत् व्यापार बन्द होने लगते हैं तथा मानसिक संकल्प विराम लेते हैं, तभी प्राणगति अवरुद्ध हो जाती है ॥ ३३॥

ओमित्येव यदुद्भूतं ज्ञानं ज्ञेयात्मकं शिवम्।
असंस्पृष्टविकल्पांशं प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥३४॥

केवल प्रणव के स्वरूप में ही प्रादुर्भूत जो ज्ञानज्ञेय रूप तथा मंगलमय बनकर प्रकट होता है तथा जिसमें विकल्प के अंश का स्पर्श भी नहीं रहता, तभी प्राण की गति अवरुद्ध हो जाती है ॥ ३४॥

चिरकालं हृदेकान्तव्योमसंवेदनान्मुने।
अवासनमनोध्यानात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ ३५॥

हे मुने! चिरकाल तक हृदय प्रदेश में एकान्त आकाश की अनुभूति होने से वासना विहीन मन ध्यान मग्न होने लगता है। इससे प्राण का स्पन्दन अवरुद्ध हो जाता है ॥ ३५ ॥

एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासंकल्पकल्पितैः।
नानादेशिकवक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥३६-क॥

इस प्रकार क्रमानुसार अन्य अनेक गुरुओं के अमृत वचनों-उपदेशों का अनुसरण करके भाँति-भाँति के संकल्पों की कल्पना के माध्यम से प्राण का स्पन्दन अवरुद्ध हो जाता है ॥३६-क॥

आकुञ्चनेन कुण्डलिन्याः कवाटमुद्घाट्य मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥३६-ख॥

योगी साधक कुण्डलिनी को संकुचित करके दरवाजे को खोलकर मुक्ति का द्वार प्रशस्त करे ॥३६-ख॥

येन मार्गेण गन्तव्यं तद्वारं मुखेनाच्छाद्य प्रसुप्ता। कुण्डलिनी कुटिलाकारा सर्पवद्वेष्टिता भवति॥३६-ग॥

जिस मार्ग से गमन करना होता है, उसी मार्ग का द्वार मुख से आच्छादित करके कुण्डलिनी शयन करती है। वह तिर्यक् स्वरूप वाली सर्प की भाँति लिपटी हुई है॥ ३६-ग॥

सा शक्तिर्येन चालिता स्यात्स तु मुक्तो भवति।सा कुण्डलिनी कण्ठोर्वभागे सुप्ता चेद्योगिनां मुक्तये भवति। बन्धनायाधो मूढानाम्॥३६-घ॥

इस कुण्डलिनी महाशक्ति को जो योगी निरन्तर संचालित करता है, वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। वह कुण्डलिनी साधक के कण्ठ में ऊर्ध्व भाग की तरफ यदि शयन करती हुई हो, तो वह योगियों को मुक्ति प्रदान कर देने वाली होती है, किन्तु यदि वह कण्ठ के नीचे शयन करती हो, तो ज्ञानरहित साधकों के लिए बन्धनकारी सिद्ध होती है॥ ३६-घ॥

इडादिमार्गद्वयं विहाय सुषुम्नामार्गेणागच्छेत्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥३६-ङ॥

इड़ा आदि दोनों मार्गों का परित्याग करके सुषुम्ना के रास्ते उसका आगमन होता है, क्योंकि वही विष्णु का परम पद है ॥३६-ङ॥

मरुदभ्यसनं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा॥३७॥

प्राणायाम का संपूर्ण अभ्यास मन के साथ ही होना चाहिए। इस अवसर पर ज्ञानी पुरुष को मन को वृत्ति को अन्यत्र संयुक्त नहीं होने देना चाहिए ॥३७॥

दिवा न पूजयेद्विष्णुं रात्रौ नैव प्रपूजयेत्।
सततं पूजयेद्विष्णुं दिवारानं न पूजयेत्॥ ३८॥

यहाँ पर यह बात नहीं है कि अमुक दिन विष्णु का पूजन नहीं करना चाहिए अथवा अमुक रात्रि को विष्णु को न पूजना चाहिए, बल्कि सदा ही विष्णु की पूजा करते रहना चाहिए। केवल रात्रि में अथवा दिन में ही न पूजना चाहिए ॥ ३८॥

सुषिरो ज्ञानजनकः पञ्चस्रोतः समन्वितः।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा त्वं हि शाण्डिल्य तां भज॥३९॥

हे शाण्डिल्य! पाँच इन्द्रियों के प्रवाह वाला हृदय रूप रिक्त स्थान ज्ञान को प्रादुर्भूत करने वाला है तथा वहीं खेचरी मुद्रा स्थित रहती है। अत: आप उसी का सेवन करें ॥३९॥

सव्यदक्षिणनाडीस्थो मध्ये चरति मारुतः।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः॥४०॥

बायीं एवं दाहिनी नाड़ी में स्थित होकर मध्य में वायु का संचरण होता रहता है तथा उस स्थान में खेचरी मुद्रा प्रतिष्ठित रहती है, इसमें किसी भी तरह का संशय नहीं है ॥ ४०॥

इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत्।
तिष्ठन्ती खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम्॥४१॥

इड़ा एवं पिंगला के मध्य में शून्य भाग स्थित है। वहाँ वह वायु को ग्रस लेता है, खेचरी मुद्रा भी वहीं पर प्रतिष्ठित रहती है एवं वहीं सत्य भी स्थित रहता है ॥४१॥

सोमसूर्यद्वयोर्मध्ये निरालम्बतले पुनः।
संस्थिता व्योमचक्रे सा मुद्रा नाम्ना च खेचरी ॥४२क॥

चन्द्रमा एवं सूर्य की दोनों नाड़ियों के बीच में आधार-रहित धरातल स्थित है, वहीं व्योम मण्डल में खेचरी मुद्रा प्रतिष्ठित है॥ ४२-क॥

छेदनचालनदोहैः फलां परां जिह्वां कृत्वा दृष्टिं भ्रूमध्ये स्थाप्य कपालकुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते। जिह्वा चित्तं च खे चरति तेनोर्ध्वजिह्वः पुमानमृतो भवति॥ ४२-ख॥

छेदन, चालन एवं दोहन के द्वारा जिह्वा को ज्यादा से ज्यादा नुकीला बनाकर, भृकुटि के बीच में दृष्टि स्थिर करके, कपाल के छिद्र में जब जिह्वा विपरीत (उल्टी) होकर गमन करने लगती है, तभी खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। जिह्वा एवं चित्त दोनों ही कपाल के छिद्र रूपी आकाश

में विचरण करते हैं, तभी ऊर्ध्व की ओर गई हुई जिह्वा वाला पुरुष अमरता को प्राप्त कर लेता है ॥ ४२-ख॥

वामपादमूलेन योनिं संपीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य तं कराभ्यां धृत्वा नासाभ्यां वायुमापूर्य कण्ठबन्धं समारोप्योर्ध्वतो वायुं धारयेत्। तेन सर्वक्लेशहानिः। ततः पीयूषमिव विषं जीर्यते। क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वगादिदोषा नश्यन्ति। एष प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः॥४२-ग॥

बायें पैर को एड़ी से मूलरन्ध्र को दबाकर दाहिना पैर आगे की तरफ फैलाकर उसे दोनों हाथों से पकड़ना तथा इसके पश्चात् नासिका के दोनों छिद्रों से वायु को भर कर कण्ठबन्ध (जालन्धर बन्ध) लगाना एवं ऊपर की ओर उठी हुई वायु को स्थिर करना चाहिए। इस क्रिया से समस्त क्लेशों का विनाश हो जाता है। इसके बाद विष भी अमृत के सदृश पच जाता है। क्षय, गुल्म, गुदावर्व एवं त्वचा के असाध्य एवं पुराने रोग विनष्ट हो जाते हैं। प्राण को जीतने का यह उपाय मृत्यु को पूर्णरूप से विनष्ट करने वाला है॥ ४२-ग॥

वामपादपाणिंयोनिस्थाने नियोज्य दक्षिणचरणं वामोरूपरि संस्थाप्य वायुमापूर्य हृदये चुबुकं निधाय योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये यथाशक्ति धारयित्वा स्वात्मानं भावयेत्। तेनापरोक्षसिद्धिः॥ ॥४२-घ॥

बायें पैर को एड़ी को योनि स्थान के साथ संयुक्त करके, दाहिना पैर बायें पैर पर रखे तथा वायु को अन्दर भरकर, ठुड्डी को हृदय की तरफ दबाकर योनि स्थान को संकुचित कर मन के मध्य अपनी

आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। इस क्रिया से अपरोक्ष सिद्धि की प्राप्ति होती है ॥४२-घ॥

बाह्यात्प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम्।
नाभिमध्ये च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्नतः॥४३॥

बाहर से प्राणवायु को अन्दर की ओर आकृष्ट करके उदर में प्रतिष्ठित करे और वहाँ से उसे नाभि के मध्य में, नाक के अग्रभाग में तथा पैर के अंगूठे में मन द्वारा प्रयासपूर्वक धारण करे। ॥४३॥

धारयेन्मनसा प्राणं सन्ध्याकालेषु वा सदा।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो भवेद्योगीगतक्लमः॥४४क॥

इस तरह से सन्ध्याकाल में यह क्रिया सदैव करने वाला योगी साधक समस्त रोगों से मुक्ति पाकर श्रम-रहित हो जाता है॥४४-क॥

नासाग्रे वायुविजयं भवति। ना भिमध्ये सर्वरोगविनाशः।
पादाङ्गुष्ठधारणाच्छरीरलघुता भवति॥ ४४-ख॥

नासिका के. अग्रभाग पर दृष्टि केन्द्रित करने से वायु को वश में किया जा सकता है, नाभि के मध्य में स्थिर करने से सभी रोगों का नाश होता है तथा पैर के अंगूठे में स्थिर करने से शरीर हल्का हो जाता है। ॥४४-ख॥

रसनाद्वायुमाकृष्य यः पिबेत्सततं नरः।

श्रमदाहौ तु न स्यातां नश्यन्ति व्याधयस्तथा ॥४५॥

जो मनुष्य जिह्वा द्वारा वायु को खींचकर सतत पान किया करता है, उसे श्रम या दाह नहीं होता तथा उसके समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं। ॥४५॥

सन्ध्ययोर्ब्राह्मण: काले वायुमाकृष्य यः पिबेत्।
त्रिमासात्तस्य कल्याणी जायते वाक् सरस्वती॥ ४६॥

जो ब्राह्मण दोनों सन्ध्याकाल में वायु को अपनी ओर आकृष्ट करके उसको पीता रहता है, उसकी वाणी में तीन मास में ही कल्याण स्वरूपा माँ सरस्वती प्रकट हो जाती हैं ॥४६॥

एवं षण्मासाभ्यासात्सर्वरोगनिवृत्तिः।
जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत्। यः पिबेदमृतं विद्वान्सकलं भद्रमश्नुते॥४७॥

इसी तरह से छ: मास पर्यन्त अभ्यास करने से समस्त प्रकार के रोगों का शमन हो जाता है। जो विद्वान् पुरुष जिह्वा द्वारा वायु को ग्रहण करके जिह्वा के मूल में उसे अवरुद्ध करता है, वह अमृत का पान करता है तथा उसका सब प्रकार से कल्याण ही होता है ॥४७ ॥

आत्मन्यात्मानमिडया धारयित्वा भ्रुवोऽन्तरे।
विभेद्य त्रिदशाहारं व्याधिस्थोऽपि विमुच्यते ॥ ४८॥

इड़ा नाड़ी के द्वारा दोनों भौंहों के मध्य में आत्मा में ही आत्मा (मन) को धारण कर लेने से पुरुष देवों के आहार का भेदन करता है, इस क्रिया को सम्पन्न करते समय यदि वह रोगी भी होता है, तो समस्त रोगों से मुक्त हो जाता है ॥४८॥

नाडीभ्यां वायुमारोप्य नाभौ तुन्दस्य पार्श्वयोः ।
घटिकैकां वहेद्यस्तु व्याधिभिः स विमुच्यते॥ ॥४९॥

इड़ा एवं पिंगला दोनों नाड़ियों के द्वारा वायु को नाभि तक खींचकर पेट के दोनों भागों में जो मनुष्य एक घड़ी तक चलाता रहता है, वह सभी रोगों से छूट जाता है ॥४९ ॥

मासमेकं त्रिसन्ध्यं तु जिह्वयारोप्य मारुतम्।
विभेद्य त्रिदशाहारं धारयेत्तुन्दमध्यमे ॥५०॥

जो मनुष्य एक मास तक तीनों (प्रातः, मध्याह्न, सायं) काल में जिह्वा द्वारा वायु को अन्दर आकृष्ट करके उदर के मध्य भाग में अवरुद्ध करता है, वह भी देवताओं के आहार का भेदन करने वाला हो जाता है ॥५०॥

ज्वराः सर्वेऽपि नश्यन्ति विषाणि विविधानि च। मुहूर्तमपि यो नित्यं नासाग्रे मनसा सह। सर्वं तरति पाप्मानं तस्य जन्मशतार्जितम् ॥५१॥

जो पुरुष नित्य मुहूर्त भर के लिए मन के साथ वायु को नासिका के अग्रभाग पर धारण करता है, उसके सभी तरह के ज्वर विनष्ट हो

जाते हैं। विभिन्न प्रकार के विषों का शमन हो जाता है। उसके सैकड़ों जन्म के पाप पूर्णरूप से छूट जाते हैं ॥५१॥

तारसंयमात्सकलविषयज्ञानं भवति।

आँख की पुतली पर संयम करने से सभी प्रकार के विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है।

नासाग्रे चित्तसंयमादिन्द्रलोकज्ञानम्।

नासिका के अग्रभाग पर चित्त का संयम करने से इन्द्रलोक का ज्ञान प्राप्त होता है।

तदधश्चित्त संयमादग्निलोकज्ञानम्।

उसके नीचे चित्त का संयम करने से अग्निलोक का ज्ञान प्राप्त होता है।

चक्षुषि चित्तसंयमात्सर्वलोकज्ञानम्।

नेत्र में चित्त का संयम करने से सभी लोकों का ज्ञान प्राप्त होता है।

श्रोत्रे चित्तस्य संयमाद्यमलोक ज्ञानम्।

श्रोत्र में संयम करने से यम लोक का ज्ञान प्राप्त होता है।

तत्पार्श्वे संयमानिर्ऋतिलोकज्ञानम्।

उसके बगल में चित्त का संयम करने से राक्षसों के लोक का ज्ञान होता है।

पृष्ठभागे संयमाद्वरुणलोकज्ञानम्।

पीठ के भाग में संयम करने से वरुण लोक का ज्ञान होता है।

वामकर्णे संय माद्वायुलोकज्ञानम्।

बायें कान में चित्त का संयम करने पर वायु लोक का ज्ञान होता है।

कण्ठे संयमात्सोमलोकज्ञानम्।

कण्ठ में संयम करने से चन्द्रलोक का ज्ञान होता है।

वामचक्षुषि संयमाच्छिवलोकज्ञानम्।

बायीं आँख में संयम करने से शिवलोक का ज्ञान प्राप्त होता है।

शाण्डल्यापानषद् मूर्ध्नि संयमाद्ब्रह्मलोकज्ञानम्।

मस्तक में संयम करने से ब्रह्मलोक का ज्ञान होता है।

पादाधोभागे संयमादतललोकज्ञानम्।

पैर के नीचे (तलवे) में संयम करने से अतल लोक का ज्ञान होता है।

पादे संयमाद्वितललोक ज्ञानम्।

पैर (पंजे) में संयम करने से वितल लोक का ज्ञान होता है।

पादसन्धौ संयमानितललोकज्ञानम्।

पैर के जोड़ (टखने) में चित्त का संयम करने से नितल लोक का ज्ञान होता है।

जड़े संयमात्सुतललोकज्ञानम्।

पैर की जंघा (पिंडली) में संयम करने से सुतल लोक का ज्ञान होता है।

जानौ संयमान्म हातललोकज्ञानम्।

जानु (घुटने) में संयम करने से महातल लोक का ज्ञान प्राप्त होता है।

ऊरौ चित्तसंयमाद्रसातललोकज्ञानम्।

ऊरु (जाँघ) में संयम करने से रसातल का ज्ञान होता है।

कटौ चित्तसंयमात्तलात ललोकज्ञानम्।

कमर में संयम करने से तलातल लोक का ज्ञान होता है।

नाभौ चित्तसंयमाद्भूलोकज्ञानम्।

नाभि में चित्त का संयम करने से भूलोक का ज्ञान होता है।

कुक्षौ संयमाद्भवलोकज्ञानम्।

पेट में संयम करने से भुवः लोक का ज्ञान होता है।

हृदि चित्तस्य संयमात्स्वलोकज्ञानम्।

हृदय में चित्त का संयम रखने से स्वः लोक का ज्ञान प्राप्त होता है

हृदयोर्ध्वभागे चित्तसंयमान्महर्लोकज्ञानम्।

हृदय के ऊर्ध्व भाग में चित्त का संयम करने से महः लोक का ज्ञान प्राप्त होता है।

कण्ठे चित्तसंयमाजनो लोकज्ञानम्।

कण्ठ में संयम करने से जनः लोक का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

भ्रूमध्ये चित्तसंयमात्तपोलोकज्ञानम्।

भृकुटी के मध्य में संयम करने से तप:लोक का ज्ञान प्राप्त होता है।

मूर्ध्नि चित्तसंयमात्सत्यलोकज्ञानम्।

मस्तक में चित्त का संयम करने से सत्यलोक का ज्ञान प्राप्त होता है।

धर्माधर्मसंयमादतीतानागतज्ञानम्।

धर्म तथा अधर्म में संयम करने से भूत-भविष्यत् का ज्ञान हो जाता है।

तत्तजन्तुध्वनौ चित्तसंयमात्सर्वजन्तुरुतज्ञानम् ।

विभिन्न प्राणियों की आवाज में संयम करने से उनकी बोली का ज्ञान होता है।

संचितकर्मणि चित्तसंयमात्पूर्वजातिज्ञानम्।

सञ्चित कर्म में संयम करने से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है।

परचित्ते चित्तसंयमात्परचित्तज्ञानम्।

दूसरे लोगों के चित्त में संयम रखने से दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है।

कायरूपे चित्तसंयमादन्याद्दश्यरूपम्।

शरीर के रूप में संयम करने से दूसरे का-सा रूप हो जाता है।

बले चित्तसंयमाद्धनुमदादिबलम्।

बल में संयम करने से हनुमान् आदि के जैसा बल प्राप्त हो जाता है।

सूर्ये चित्तसंयमा वनज्ञानम्।

सूर्य में संयम करने से समस्त भुवनों का ज्ञान हो जाता है।

चन्द्रे चित्तसंयमात्ताराव्यूहज्ञानम्।

चन्द्र में संयम करने से समस्त तारामण्डलों का ज्ञान हो जाता है।

ध्रुवे तद्गतिदर्शनम्।

ध्रुव में संयम करने से उसकी गति का दर्शन होता है।

स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्।

स्वार्थ में संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।

नाभिचक्र में संयम करने से शरीर व्यूह का ज्ञान होता है।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः।

कण्ठ कूप में संयम करने से भूख-प्यास समाप्त हो जाती है।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्।

कूर्म नाड़ी में संयम करने से स्थिरता आती है।

तारे सिद्धदर्शनम्।

तारा में संयम करने से सिद्ध दर्शन होता है।

कायाकाशसंयमादाकाशगमनम्।

शरीर के आकाश में संयम करने से मनुष्य आकाश में गमन कर सकता है।

तत्तत्स्थाने संयमात्तत्तत्सिद्धयो भवन्ति ॥५२॥

इस तरह से भिन्न-भिन्न स्थानों में संयम करने से उस स्थान में स्थित विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥५२॥

प्रथमाध्याये – अष्टम: खण्डः

प्रथम अध्याय – आठवाँ खण्ड

अथ प्रत्याहारः ।

अब प्रत्याहार का वर्णन करते हैं।

स पञ्चविधः विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहारः।

वह पाँच प्रकार का है। विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों को बलपूर्वक अपनी ओर आकृष्ट कर लेने इन्द्रियाँ बाह्य भोगों में रस लेने की अभ्यस्त होती हैं, उन्हें बाह्य उपकरण में से हटाकर अन्तःकरण की रसानुभूति से जोड़ लेने को प्रत्याहार कहा जाता है।

यद्यत्पश्यति तत्सर्वमात्मेति प्रत्याहारः।

जो-जो दिखाई देता है, वह सब आत्मा है, ऐसा समझना चाहिए, आँख, नाक, कान आदि विभिन्न अवयवों की अनुभूति वास्तव में आत्मा के ही कारण है। इसका बोध होना यही प्रत्याहार है।

नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः।

नित्य किये गये कर्मों के फल का परित्याग कर्म के फल में रस लेने की अपेक्षा कर्म करने में ही रस एवं सार्थकता की अनुभूति होने पर फल की कामना न रहना ही प्रत्याहार है।

सर्वविषयपराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः।

समस्त प्रकार की विषय-वासनाओं से रहित होना अर्थात अन्त:स्थिति उच्च रसों की अनुभूति के आधार पर विषयों के रस की कामना न रहना, यह प्रत्याहार है।

अष्टादशसु मर्मस्थानेषु क्रमाद्धारणं प्रत्याहारः॥१॥

अट्ठारह मर्म-स्थलों में क्रमश: धारणा करना अर्थात उन स्थानों पर स्थित चेतन दिव्य प्रवाहों के साथ चित्त का तादात्म्य स्थापित करके दिव्यानुभूति प्राप्त करना, यही प्रत्याहार है॥१॥

पादाङ्गुष्ठगुल्फजङ्घाजानूरुपायुमेढ्रनाभिहृदयकण्ठकूपतालुनासाक्षि भ्रूमध्यललाटमूर्ध्नि स्थानानि। तेषु क्रमादारोहावरोहक्रमेण प्रत्याहरेत्॥२॥

पैर का अँगूठा, गुल्फ (टखने),जंघा (पिंडली), जानु (घुटने), ऊरु (जाँघ), गुदा, लिङ्ग, नाभि, हृदय, गले का छिद्र, तालु नासिका, आँख, भौंहों के बीच का भाग, ललाट एवं सिर-इन सभी स्थलों में उतार चढ़ाव के क्रम से प्रत्याहार करना चाहिए ॥२॥

प्रथमाध्याये – नवम: खण्डः

प्रथम अध्याय – नौवां खण्ड

अथ धारणा।

अब धारणा को स्पष्ट करते हैं।

सा त्रिविधा आत्मनि मनोधारणं दहराकाशे बाह्याकाशधारणं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेषु पञ्चमूर्तिधारणं चेति॥१॥

यह तीन प्रकार की होती है। अपनी अन्तरात्मा में मन की धारणा करना, दहरा (हृदय) आकाश में बाह्याकाश की धारणा करना तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश में पाँच मूर्तियों की धारणा करनी चाहिए। यह तीन प्रकार हैं ॥१॥

प्रथमाध्याये – दशम: खण्डः

प्रथम अध्याय – दासवाँ खण्ड

अथ ध्यानम्। तद्विविधं सगुणं निर्गुणं चेति। सगुणं मूर्तिध्यानम्। निर्गुणमात्मया थात्म्यम्॥१॥

अब इसके बाद ध्यान को बतलाते हैं-यह दो प्रकार का होता है, प्रथम-निर्गुण एवं द्वितीय-सगुण। मूर्ति का चिन्तन करना सगुण कहलाता है तथा आत्मा के स्वरूप का ध्यान करना निर्गुण कहलाता है ॥१॥

प्रथमाध्याये – एकादश: खण्डः

प्रथम अध्याय – ग्यारहवां खण्ड

अथ समाधिः। जीवात्मपरमात्मैक्यावस्था त्रिपुटीरहिता परमानन्दस्वरूपा शुद्धचैतन्यात्मिका भवति॥१॥

अब इसके अनन्तर समाधि का वर्णन करते हैं। जीवात्मा एवं परमात्मा की ऐक्यावस्था, (ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता) की त्रिपुटीविहीन, परमानन्द के रूप से युक्त एवं शुद्ध चैतन्यमय अवस्था ही समाधि कहलाती है ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

द्वितीय अध्याय

अथ ह शाण्डिल्यो ह वै ब्रह्मऋषिश्चतुषु वेदेषु ब्रह्मविद्यामलभमानः किं नामेत्यथर्वाणं भगवन्तमुपसन्नः पप्रच्छाधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां येन श्रेयोऽवाप्स्यामीति॥१॥

तदनन्तर ब्रह्मर्षि शाण्डिल्य ने चारों वेदों में अर्थात चारों वेदों का अध्ययन करने पर भी ब्रह्म विद्या को प्राप्त न कर पाने से भगवान् अथर्वा की शरण में पहुँचकर प्रश्न किया- 'हे भगवन् ! आप हमें ब्रह्म विद्या का अध्ययन कराएँ, जिससे कि मुझे कल्याण की प्राप्ति हो ॥१॥

स होवाचाथर्वा शाण्डिल्य सत्यं विज्ञानमनन्तं ब्रह्म। ॥२॥

तत्पश्चात् अथर्वा मुनि ने कहना प्रारम्भ किया "हे शाण्डिल्य! ब्रह्म, सत्य, विज्ञान एवं अनन्त रूपों में संव्याप्त है ॥२॥

यस्मिन्निदमोतं च प्रोतं च। यस्मिन्निदं संच विचैति सर्वं यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।
तदपाणिपादमचक्षुःश्रोत्रमजिह्वमशरीरमग्राह्यमनिर्देश्यम्॥३॥

जिसमें यह सभी कुछ ओत-प्रोत है। जिसमें यह प्रादुर्भूत होता है तथा अस्त भी होता है,उसी तरह से जिसको समझ लेने से यह सभी कुछ समझ लिया जाता है,वह हाथ-पैर से विहीन,नेत्रों से रहित,कार्य विहीन,जिह्वा रहित, शरीर विहीन, स्वीकार न किए जाने योग्य तथा स्पष्ट रूप से बताये न जा सकने योग्य है ॥३॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। यत्केवलं ज्ञानगम्यम्। प्रज्ञा च यस्मात्प्रसृता पुराणी। यदेकमद्वितीयम्।आकाशवत्सर्वगतं सुसूक्ष्म निरञ्जनं निष्क्रियं सन्मानं चिदानन्दैकरसं शिवं प्रशान्तममृतं तत्परं च ब्रह्म। तत्त्वमसि तज्ज्ञानेन हि विजानीहि॥४॥

जिसे प्राप्त किये बिना वाणी एवं मन पीछे की ओर वापस हो जाते हैं। जो मात्र ज्ञान से ही पाया जा सकता है, जिससे प्राचीन प्रज्ञा का प्रचार-प्रसार हुआ है, जो अनुपम एवं अद्वितीय है, आकाश के सदृश सर्वत्र व्याप्त रहने वाले, अति सूक्ष्म, निरञ्जन, क्रियाविहीन, एकमात्र सत्य स्वरूप, चेतना से सम्पन्न, आनन्द स्वरूप, एकरस से सम्पन्न, मंगलमय, अत्यन्त शांत एवं अमर है, वही परम अविनाशी ब्रह्म है। वही तुम हो। ज्ञान के द्वारा तुम उसे जानो॥४॥

य एको देव आत्मशक्तिप्रधानः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वभूतान्तरात्मा सर्वभूताधिवासः सर्वभूतनिगूढो भूतयोनिर्योगैकगम्यः। यश्च विश्वं सृजति विश्वं बिभर्ति विश्वंभुङ्क्ते स आत्मा। आत्मनि तं तं लोकं विजानीहि॥५॥

जो एक ही देव आत्मा की शक्ति के रूप में प्रमुख, सब प्रकार से ज्ञान सम्पन्न, सर्वेश्वर, समस्त प्राणियों को अन्तरात्मा, सभी प्राणियों में निवास करने वाले, सब प्राणियों में छिपे हुए, सभी प्राणियों का मूल उत्पत्ति स्थान, केवल योग के द्वारा ही जाने जा सकने योग्य है, जो विश्व की सृष्टि, पालन एवं विलय स्वयं करता है, वही आत्मा है। तुम आत्मा में ही उन सबको स्थित जानो॥५॥

मा शोचीरात्मविज्ञानी शोकस्यान्तं गमिष्यसि॥६॥

तुम शोक बिल्कुल न करो। आत्मा का विशिष्ट ज्ञान पाकर के तुम शोक का अन्त कर सकोगे ॥६॥

तृतीयोऽध्यायः– प्रथमः खण्डः

तृतीय अध्याय – प्रथम खण्ड

अथ हैनं शाण्डिल्योऽथर्वाणं पप्रच्छ यदेकमक्षरं निष्क्रियं शिवं सन्मानं परब्रह्म। तस्मात्कथमिदं विश्वं जायते कथं स्थीयते कथमस्मिल्लीयते। तन्मे संशयं छेत्तुमर्हसीति॥१॥

इस प्रकार अथर्वा मुनि से जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् महात्मा शाण्डिल्य ने पुनः प्रश्न किया- हे भगवन् ! जो परब्रह्म एकाक्षर, क्रिया विहीन, मङ्गलमय, सत्ता मात्र एवं आत्म स्वरूप है, उससे यह जगत् किस प्रकार से प्रादुर्भूत होता है ? किस प्रकार वह प्रतिष्ठित होता है तथा किस तरह से उसमें विलीन हो जाता है ? मेरी यह शंका दूर करना अत्यन्त आवश्यक है॥१॥

स होवाचाथर्वा सत्यं शाण्डिल्य परब्रह्म निष्क्रियमक्षरमिति। अथाप्यस्यारूपस्य ब्रह्मणस्त्रीणि रूपाणि भवन्ति सकलं निष्कलं सकलनिष्कलं चेति ॥२-३॥

ऐसा सुनकर अथर्वा मुनि ने कहा-हे शाण्डिल्य! यह सत्य है कि परब्रह्म निष्क्रिय एवं अक्षर रूप है, तब भी इस अविनाशी परब्रह्म के तीन स्वरूप-सकल, निष्कल एवं सकल-निष्कल हैं॥ २-३॥

यत्सत्यं विज्ञानमानन्दं निष्क्रियं निरञ्जनं सर्वगतं सुसूक्ष्मं सर्वतोमुखमनिर्देश्य-ममृतमस्ति तदिदं निष्कलं रूपम्॥४॥

जो सत्यरूप, विज्ञानयुक्त, आनन्दस्वरूप, क्रियारहित, निरञ्जन, सर्वव्यापी, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, चतुर्दिक मुखवाला, अनिर्वचनीय और अमर है, यह ब्रह्म का निष्कल रूप है॥ ४॥

अथास्य या सहजास्त्यविद्या मूलप्रकृतिर्माया लोहितशुक्लकृष्णा। तया सहायवान् देवः कृष्णपिङ्गलो महेश्वर ईष्टे । तदिदमस्य सकलं रूपम्॥५॥

इसके पश्चात् अब इस परब्रह्म की जो सहज अविद्या, मूल प्रकृति और माया शक्ति है, वह लाल, श्वेत एवं कृष्ण रंग से युक्त है। उस माया की सहायता प्राप्त करके यह देव कृष्ण एवं पीत रंग से युक्त होकर सभी का ईश्वर और नियन्ता होता है। यह इस ब्रह्म का 'सकल' रूप है।॥ ५ ॥

अथैष ज्ञानमयेन तपसा चीयमानोऽकामयत बहुस्यां प्रजाययेयेति। अथैतस्मात्तप्यमा नात्सत्यकामात्रीण्यक्षराण्यजायन्त। तिस्रो व्याहृतयस्तिस्रपदा गायत्री त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो वर्णास्त्रयोऽग्नयश्च जायन्ते। योऽसौ देवो भगवान्सर्वैश्वर्यसंपन्नः सर्वव्यापी सर्वभूतानां हृदये संनिविष्टो मायावी मायया क्रीडति स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स इन्द्रः स सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि स एव पुरस्तात्स एव पश्चात्स एवोत्तरतः स एव दक्षिणतः स एवाधस्तात्स एवोप रिष्टात्स एव सर्वम्।अथास्य देवस्यात्मशक्तेरात्मक्रीडस्य भक्तानुकम्पिनो

दत्तात्रेयरूपा सुरूपा तनूरवासा इन्दीवरदलप्रख्या
चतुर्बाहुरघोरापापकाशिनी। तदिदमस्य सकलनिष्कलं रूपम्॥

तत्पश्चात् इस परब्रह्म ने ज्ञानमय तप से वृद्धि प्राप्त कर इच्छा की कि "मैं विभिन्न रूपों में प्रकट (प्रादुर्भूत) हो जाऊँ।" तदनन्तर तप प्रारम्भ किया। तभी समस्त कामनाओं से सम्पन्न तीन अक्षर प्रादुर्भूत हुए, वैसे ही तीन व्याहतियाँ, तीन पदों वाली गायत्री, तीन वेद, तीन देव, तीन वर्ण एवं तीन अग्नियाँ उत्पन्न हुईं। जो यह देव भगवान् होकर समस्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न, सर्वत्र व्याप्त रहने वाला, समस्त प्राणियों के हृदय में रहने वाला, मायावी एवं माया के साथ क्रीड़ा- कल्लोल करता है, वही ब्रह्मा, वही विष्णु, वही रुद्र, वही इन्द्र, वही समस्त देवताओं एवं सभी भूत-प्राणियों के रूप में है। वही अग्रभाग में, वही पृष्ठभाग में, वही उत्तर की ओर, वही दक्षिण की ओर, वही नीचे की ओर तथा वही ऊर्ध्व की ओर प्रतिष्ठित है। इस तरह से वही सब कुछ है। यह देव अपनी शक्ति से क्रीड़ा करने वाला तथा अपने भक्तों के प्रति अनुकम्पा बनाये रखने वाला है। इसका शरीर दत्तात्रेय रूप, सुन्दर, वस्त्र रहित, कमल की पंखुड़ी के सदृश कोमल, चार भुजाओं से सम्पन्न, भयंकरता से रहित एवं पापरहित होकर प्रकाश से युक्त है। यही उसका सकल-निष्कल' रूप है।। ६॥

तृतीयोऽध्यायः– द्वितीयः खण्डः

तृतीय अध्याय – द्वितीय खण्ड

अथ हैनमथर्वाणं शाण्डिल्यः पप्रच्छ भगवन्सन्मानं चिदानन्दैकरसं कस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति। स होवाचाथर्वा यस्माच्च बृहति बृहयति च सर्वं तस्मादुच्यते परब्रह्मेति॥१-२॥

इसके पश्चात् महर्षि शाण्डिल्य ने अथर्वा मुनि से पुनः प्रश्न किया- "हे भगवन् ! मात्र सत्य स्वरूप, चैतन्य युक्त एवं आनन्दस्वरूप एकरस सम्पन्न यह परब्रह्म क्यों कहा जाता है ? तब अथर्वा मुनि ने उत्तर दिया- "हे शाण्डिल्य! वह ब्रह्म स्वयं वृद्धि को प्राप्त होता है तथा अन्य दूसरों को वृद्धि प्रदान करता है, अतः इस कारण से वह अविनाशी शाश्वत ब्रह्म कहलाता है ॥१-२॥

अथ कस्मादुच्यते आत्मेति। यस्मात्सर्वमानोति सर्वमादत्ते सर्वमत्ति च तस्मादुच्यते आत्मेति॥३-४॥

इसके अनन्तर 'वह आत्मा क्यों कहा जाता है?' ऐसा पूछने पर अथर्वा मुनि ने कहा - वह ब्रह्म सर्वत्र सभी में विद्यमान रहता है, सभी को स्वीकार करता है तथा सभी का भक्षण कर लेता है अर्थात अपने में मिला लेता है, इस कारण वह आत्मा कहलाता है॥३-४॥

अथ कस्मादुच्यते महेश्वर इति। यस्मान्महत ईशः शब्दध्वन्या चात्मशक्त्या च महत ईशते तस्मादुच्यते महेश्वर इति ॥५-६॥

तब अथर्वा मुनि ने पूछा - वह महेश्वर क्यों कहा जाता है? क्योंकि वह शब्द ध्वनि एवं आत्मशक्ति से बड़ों-बड़ों का नियंत्रण करता है तथा बड़ों-बड़ों का ईश्वर है, इसलिए वह महेश्वर कहलाता है। ॥५-६॥

अथ कस्मादुच्यते दत्तात्रेय इति।

वह दत्तात्रेय क्यों कहा जाता है।

यस्मात्सुदुश्चरं तपस्तप्यमानायात्रये पुत्रकामायातितरां तुष्टेन भगवता ज्योतिर्मयेनात्मैव दत्तो यस्माच्चानसूयायाम।स्तनयोऽभवत्तस्मादुच्यते दत्तात्रेय इति ॥ ७-८॥

अथर्वा मुनि ने उत्तर दिया- क्योंकि अत्यन्त उग्र तपश्चर्या करने के उपरान्त अत्रि ऋषि ने पुत्र प्राप्ति की कामना की। तदनन्तर उनके ऊपर अत्यधिक प्रसन्न होते हुए ज्योतिष्मान् भगवान् शिव ने स्वयं को ही उन अत्रि ऋषि को पुत्र रूप में प्रदत्त किया और वे स्वयं अत्रि एवं अनसूया के द्वारा प्रादुर्भूत हुए। इस प्रकार से वह दत्तात्रेय के नाम से प्रसिद्ध हुए ॥ ७-८॥

अथ योऽस्य निरुक्तानि वेद स सर्वं वेद। अथ यो ह वै विद्ययैनं परमुपास्ते सोऽहमिति स ब्रह्मविन्द्भवति ॥ ९-१०॥

इन समस्त अर्थ सहित नामों को जो व्युत्पत्ति सहित समझता है, वह सभी कुछ जानने में समर्थ हो जाता है। इसके अनन्तर जो इस आत्म

विद्या के द्वारा इस परमात्म तत्त्व की उपासना करता है, वह "मैं ही परमात्मा हूँ" इस प्रकार के भाव से ब्रह्म का वर्णन करने वाला ब्रह्मवेत्ता बन जाता है॥९-१०॥

अत्रैते धोका भवन्ति। दत्तात्रेयं शिवं शान्तमिन्द्रनीलनिभं प्रभुम्। आत्ममायारतं देवमवधूतं दिगम्बरम्॥११॥

भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं जटाजूटधरं विभुम्। चतुर्बाहुमुदाराङ्गं प्रफुल्लकमलेक्षणम्॥ १२॥

ज्ञानयोगनिधिं विश्वगुरुं योगिजनप्रियम्। भक्तानुकम्पिनं सर्वसाक्षिणं सिद्धसेवितम्॥१३॥

एवं यः सततं ध्यायेद्देवदेवं सनातनम्।स मुक्तः सर्पपापेभ्यो निःश्रेयसमवाप्नुयात्॥१४॥

इत्यों सत्यमित्युपनिषद् ॥ १५॥

यहाँ पर ये निम्न श्रोक कहे गये हैं- "मंगल स्वरूप वाले, शान्तरूप वाले, इन्द्रनीलमणि के समान श्याम, आत्ममाया के साथ रमण करने वाले, अवधूत, नग्न शरीर वाले, भस्म लगे हुए शरीर वाले, जटाजूट धारण किये हुए , सर्वत्र व्याप्त रहने वाले, चार भुजाओं से युक्त, उदार अंग वाले, प्रफुल्ल कमल के समान नेत्र वाले, ज्ञानयोग के भण्डार, सम्पूर्ण विश्व के गुरु, योगी जनों के प्रिय, अपने भक्तजनों पर दया करने वाले, सबके साक्षी एवं सिद्धजनों द्वारा सेवित प्रभु दत्तात्रेय देव शाश्वत, सनातन पुरुष हैं तथा देवों के भी देव अर्थात् आदिदेव हैं।

इस तरह से जो पुरुष निरन्तर सदा ही उन (देवपुरुष) का ध्यान करता रहता है, वह समस्त पापों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। इति ॐ सत्यम् अर्थात् यही सत्य है। इस प्रकार से यह उपनिषद् (रहस्यमयी विद्या) पूर्ण हुई ॥११-१५॥"

॥ इति शाण्डिल्योपनिषत्समाप्ता॥

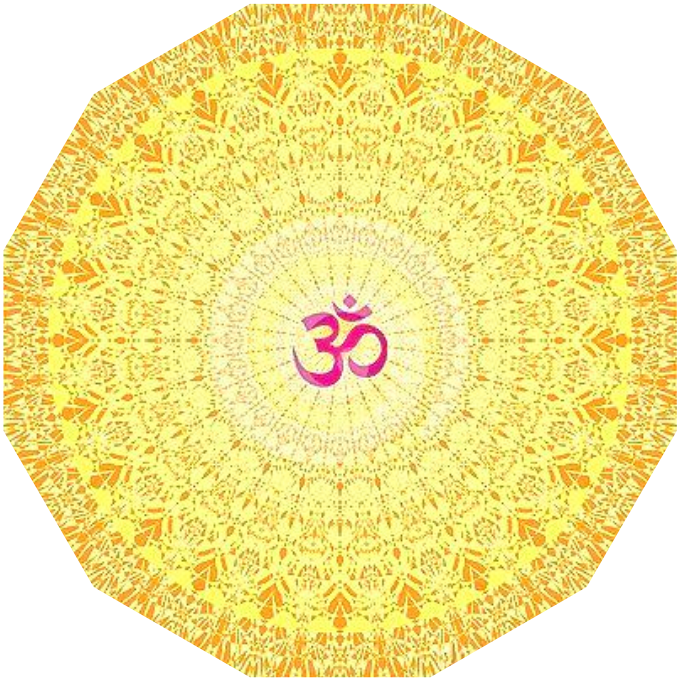

संकलनकर्ता:

श्री मनीष त्यागी

संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

www.shdvef.com

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥